स्मृतियों में भारतीय जीवन दर्शन

आचार्य प्रकाशन
190 बी / 10 राजरूपपुर
इलाहाबाद

स्मृतियों में भारतीय जीवन दर्शन

डा० हरिनाथ त्रिपाठी

आचार्य प्रकाशन
190 बी / 10 राजरूपपुर
इलाहाबाद

आचार्य प्रकाशन :
190 बी / 10 राजरूपपुर, इलाहाबाद
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1993

आवरण : इम्पैक्ट

मूल्य : 70.00 (सत्तर रुपये)

मुद्रक : सुपरफाइन प्रिंटर्स,
4/2 बाई का बाग, इलाहाबाद

न्यायमूर्ति
बनवारी लाल यादव
उच्च न्यायालय इलाहाबाद

जून 17 वर्ष 1993

संस्तुति

"स्मृतियों में भारतीय जीवनदर्शन" ग्रन्थ का मैंने आद्योपान्त अध्ययन किया। स्मृतिग्रंथों में अन्तर्हित भारतीय जीवन पद्धति का समग्र स्वरूप सहज सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने का निष्ठापूर्वक प्रयास किया गया है। ग्रन्थ में परिवार नियोजन, छात्रजीवन, आश्रमव्यवस्था, वर्णव्यवस्था, पति-पत्नी संबंध, माता-पिता, आचार्य, राजा एवं प्रजाजन आदि विषयों की वैज्ञानिक चर्चा मार्मिक रूप से प्रस्तुत की गयी है। मैं ग्रन्थ की उपादेयता एवं लेखक डॉ० हरिनाथ त्रिपाठी अधिवक्ता उच्च न्यायालय इलाहाबाद के प्रगतिशील, मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ।

—बनवारी लाल यादव

परम श्रद्धेय गुरुवर
डॉ० शिवशेखर मिश्र
भूतपूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
संस्कृत एवं संस्कृति विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
को सादर सर्मपित

संगाथा

वेदमन्त्रों के दृष्टा ऋषियों, उपनिषदों, पुराणों, शिक्षा, साहित्य, संहिता, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्रों के मननशील सृष्टा विधि विज्ञान, मानव जीवन विज्ञान, स्मृतियों, महाकाव्यों, खण्डकाव्यों के रचयिताओं मुनियों, कवियों, साधु सन्तों, तपस्वियों तथा राजाओं आदि के जीवन-दर्शन का स्पष्ट उल्लेख स्मृतियों में विद्यमान है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, भारतीय जन-जीवन के त्रिकाल द्रष्टा स्मृतिकारों ने मानव को स्वस्थ, चरित्रवान, ज्ञानवान, धनवान बनाने के लिए, असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मानवता से देवत्व की ओर ले जाने के लिए, संस्कारों, आश्रम व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, पिता, माता, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, राजा, सेवक, प्रजा आदि के धर्माधर्म का क्रमबद्ध एवं नियमबद्ध चित्रण स्मृतियों में किया है।

मेरी धारणा के अनुसार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, भारत देश, सम्प्रभुतापूर्ण राष्ट्र है, इसका सर्वांगीण विकास, सुख शान्ति, केवल भारतीय मनीषियों के अनुसन्धान से विकसित वैज्ञानिक जीवन-पद्धति के आधार पर ही सहज ढंग से हो सकती है और तभी राष्ट्र में स्नेह-सौहार्द्र, समता, समन्वय, आर्य आचरण, देश प्रेम, विश्वबन्धुत्व, विश्व शान्ति एवं रामराज्य का स्वप्न साकार हो सकता है। भारतीय मनीषियों द्वारा अनुसन्धानित आर्य-जीवन पद्धति का संचय स्मृतियों में विद्यमान है।

भारतीय धर्मज्ञान में ही सम्पूर्णरूपेण प्राणिमात्र के दुःख मुक्ति के उपायों का चिंतन किया गया है। वेदों में कामना की गयी—

> 'नाऽहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, न पुनर्भुवं,
> कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।'

अर्थात् न मुझे राज्य की कामना है, न स्वर्ग की, न पृथ्वी की, केवल दुःख से पीड़ित प्राणियों के दुःख विनाश की कामना है। स्मृतिग्रन्थों में सम्प्रदाय एवं पंथ से बहुत ऊपर उठकर, पाशवीय गुणों के विपरीत, मनुष्यत्व तथा देवत्व की उपलब्धि के लिए मानवधर्म की संरचना की गयी जिसके अन्तर्गत मनुष्य के इन्द्रियजन्य विकारों, जड़ता, अक्षमा, दुराचरण, अशौच आदि दस विकारों के विपरीत 'धृतिः क्षमादमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः, धीः विक्रमः, सत्यमक्रोधः दशकं धर्म लक्षणम्' धर्म के दस सोपानों का प्रतिपादन स्मृतियों में किया गया है। विद्यार्थी जीवन की मनोवैज्ञानिक जीवन पद्धति, आचार्य के उदारतापूर्ण दायित्वों, प्रजा एवं राजा के आदर्शों का वैज्ञानिक निरूपण स्मृतियों में उपलब्ध है जिसकी पृष्ठभूमि पर भारत देश सर्वश्रेष्ठ देशों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता रहा है। यहाँ की संस्कृति, भाषा, शिक्षा, विज्ञान, धर्म, दर्शन, गणित, ज्योतिष, जप, तप, नर-नारी विश्व में अद्वितीय रहे हैं। क्या कारण है, सैकड़ों वर्ष की परतन्त्रता के पश्चात् पूर्ण स्वतन्त्र होने पर भी, पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, वेश, परि-

वेश, खान-पान, भाषा विज्ञान, से परिभूत होते हुए भी हमारे देश में दया, ममता, प्रेम, वात्सल्य, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्र हित चिंतन, आचारवान राजनीति, विवेकशील सद्-चरित्रवान राजनेता, सदाचारी धर्माचार्य, ज्ञानवान शिक्षक, संयमी छात्र, साध्वी नारियाँ, निष्ठावान सेवक, प्राणिमात्र की पीड़ा दूर करने वाली कामना वाले प्रजाजन, 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' अर्थात् सम्पूर्ण भू धरा को अपना परिवार मानने वाले सज्जन इस देश में दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं ? श्री राम, श्री कृष्ण, महात्मा बुद्ध, महावीर, महात्मा गाँधी का अहिंसावादी देश, अहिंसा परमोधर्मः का उपदेश करने वाला राष्ट्र, आतंकवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद का शिकार हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक भारतीय जन-जीवन, भारतीय ऋषियों के द्वारा अनुभूत जीवन पद्धति जिसका वर्णन स्मृतिग्रन्थों में किया गया है अनुसरण नहीं करेगा, अपनी सांस्कृतिक धरोहर, गरिमा, सुख-शान्ति, राष्ट्र कल्याण, मानव कल्याण के पवित्र लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। वर्तमान परिस्थितियों के परिपेक्ष्य में स्मृतियों में प्रदर्शित भारतीय जीवन दर्शन का प्रकाशन हितकारी हो सकता है। इसी उद्देश्य से मैंने 'स्मृतियों में भारतीय जीवन दर्शन' ग्रन्थ को प्रकाशित कराने का निश्चय किया। प्रस्तुत ग्रन्थ विद्वानों, अध्यापकों तथा छात्रों को यदि थोड़ा भी भा गया तो ग्रन्थ का लक्ष्य पूर्ण हो जायेगा।

परिश्रम से ज्ञानार्जन की ओर अग्रसर होने में, सहृदयता का संस्कार एवं उन्मेष परमश्रद्धेया माता जी श्रीमती इन्दिरा त्रिपाठी एवं पूज्य अग्रज श्री पारस नाथ त्रिपाठी के द्वारा सम्पन्न हुआ। आगे सारस्वत साधना में निरत मेरे गुरुदेव आचार्य राम सन्मुख द्विवेदी, प्रधानाचार्य संस्कृत महाविद्यालय मिश्र पोखरा वाराणसी एवं श्रद्धेय गुरुदेव डा० शिवशेखर मिश्र पूर्व प्रो० एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, ज्ञान, वात्सल्य एवं सरलता की सहज मूर्ति परमादरणीया स्वर्गीया श्रीमती इन्द्रमती मिश्रा पूर्व प्रवक्ता संस्कृत विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, तथा संस्कार सम्पन्न, विचारशील मित्र श्री वृजेन्द्र सिंह यादव अतिरिक्त जिला जज पीलीभीत से प्राप्त प्रोत्साहन से मेरी ग्रन्थ रचना प्रक्रिया सदा गतिशील बनी रही।

विधि क्षेत्र के अशेष गौरव, संस्कृत काव्य भारती के वरदपुत्र, न्यायमूर्ति बनवारी लाल यादव उच्च न्यायालय इलाहाबाद, एवं मेरे परम शुभेच्छुः वरिष्ठ अधिवक्ता उच्च न्यायालय इलाहाबाद श्री नन्हे लाल, श्री रमा शंकर सिंह मुख्य विकास अधिकारी लखीमपुर एवं श्री नित्यानन्द मिश्र से मुझे सतत् स्नेह तथा प्रेरणा मिलती रही है।

ममता एवं प्रगतिशीलता की प्रतिमूर्ति श्रीमती पुष्पलता अग्रवाल, श्रीमती मालती सिंह, श्रीमती उमा चतुर्वेदी, श्रीमती निर्मला मिश्रा, कु० राधा रानी तथा मेरी प्रणावती श्रीमती कमला त्रिपाठी की शुभकामनाएँ मेरी साहित्य साधना का संवल रही हैं।

मुद्रित रूप में यह ग्रन्थ आचार्य प्रकाशन के कर्मयोगी विद्वान प्रकाशक श्री सर्वेश शुक्ला के अथक परिश्रम, लगन एवं व्यय से सम्भव हो सका है मैं उनका आभारी हूँ। संकलन की रूपरेखा तैयार करने के क्षणों में मेरी श्रीमती मीरा त्रिपाठी, पुत्र राकेश

त्रिपाठी, राजेश त्रिपाठी, योगेश त्रिपाठी पुत्रवधू श्रीमती पूनम त्रिपाठी, पौत्र आलोक त्रिपाठी, आनन्द त्रिपाठी का मण्डलाकार बैठना प्रेरक प्रसंग रहा है।

यदि यह ग्रन्थ समाज के चिंतनशील सज्जनों, प्रगतिशील मेधावी विद्यार्थियों विद्वानों, आचार्यों को कुछ भी रमाने में समर्थ हुआ तो मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा। ग्रन्थ में हुयी संभाव्य त्रुटियों या आत्मीय चिंतन के सम्बन्ध में विद्वानों का संकेत शिरोधार्य होगा।

मीरा निवास
1133 राजरूपपुर
इलाहाबाद
दूरभाष---602788

डा० हरिनाथ त्रिपाठी
अधिवक्ता उच्च न्यायालय
इलाहाबाद

विषय-सूची

स्मृतियों का उदय एवं विकास

ब्राह्मण काल में यज्ञ यागादि सम्बन्धी कर्मकाण्ड का विस्तार होने के कारण सर्वसाधारण की आस्था उनकी ओर से हटने लगी और लोग उनकी ओर से विमुख होने लगे। वे साक्षात्कृत धर्मों, महर्षियों के वचनों को भूलने लगे। अतः उनकी सुरक्षा की महती आवश्यकता थी। उन महर्षियों के वचनों का स्मरण करके जिन ग्रंथों की रचना समय-समय पर हुई वे स्मृति कहलाये। कुछ लोग शब्द एवं अर्थ के माहात्म्य को भूलने लगे थे अतः वेद के अर्थ एवं विषय तथा यज्ञादि की प्रक्रियाओं को समझाने के लिये छोटे-छोटे ग्रंथों की आवश्यकता हुई। ये सूत्र ग्रंथ कहलाये क्योंकि इनमें थोड़े अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के समावेश का प्रयास किया गया। इनका भी सम्बन्ध वेद से है अतः ये वेदांग अथवा वेद के अंग कहलाये।

वेदांग छः हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। शिक्षा द्वारा वेदों के उच्चारण का ज्ञान होता है। व्याकरण का उद्देश्य वेदार्थ की रक्षा करना है, निरुक्त में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति की गई है। वैदिक मंत्रों के अधिकांशतः छन्दोबद्ध होने के कारण छन्दों का विशेष महत्व है। ज्योतिष के द्वारा यज्ञ के प्रतिपादन सम्बन्धी उचित काल का ज्ञान होता है।

कल्पसूत्र के दो भेद हो जाते हैं। (1) श्रौत सूत्र (2) स्मार्त सूत्र। श्रौत सूत्रों में दर्शपूर्ण मास आदि बड़े-बड़े की व्याख्या है जिनका निर्देश संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों में प्राप्त होता है। स्मार्त सूत्र के दो भेद हो जाते हैं पहला गृह्य सूत्र तथा दूसरा धर्म सूत्र। गृह्य सूत्रों में आचारों तथा संस्कारों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। धर्म सूत्रों में वर्णाश्रम धर्म का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है और उनमें सामाजिक जीवन के नियमों का विशेष प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं धर्म सूत्रों से कालान्तर में स्मृति ग्रंथों का उदय हुआ।

स्मृतियों का विशाल साहित्य है। याज्ञवल्क्य के अनुसार मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, सम्वर्त, कात्यायन वृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित दक्ष, गौतम, दातात्रय, वशिष्ठ के स्मृतियों के रचियता हैं। इतना विशाल साहित्य होने पर भी विषय आदि की दृष्टि से मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भगवान मनु वर्णाश्रम धर्म के व्यवस्थापक माने गये हैं। याज्ञवल्क्य की स्मृति उसी मनु की ही व्यवस्था का अनुगमन करती है।

स्मृति ग्रंथों के प्रमुख चार प्रमुख विषय हैं। उनमें से एक आचार, दूसरा व्यवहार, तीसरा प्रायश्चित्तीय और चौथा कर्मफल से सम्बन्धित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चार आश्रमों के समुचित निर्वाह की विधियों का विशद विश्लेषण आदि अनेक बातें स्मृतियों के

वर्ण विषय हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि स्मृतियों की रचना सूत्र ग्रंथों से हुई। विष्णु स्मृति को छोड़ शेष सभी स्मृतियाँ पद्यबद्ध हैं। इन स्मृतियों में तत्कालीन रीति रिवाजों पर पूर्णतः प्रभाव डाला गया है। प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन की व्यवस्था का पूर्ण विवेचन इन स्मृतियों में उपलब्ध है। इन स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत का संविधान बड़े अध्यवसाय और व्यापक परीक्षण के बाद तैयार किया गया था। तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति की व्यापकता के परिचायक इन स्मृति ग्रंथों में मनुष्य मात्र के हितों की रक्षा, उसके कल्याण की योजना और उसके आत्माभ्युदय की स्वतंत्रता का विधान सर्वत्र वर्णित है। स्मृतियों की परम्परा में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णुस्मृति एवं वृहस्पति स्मृति प्रमुख हैं।

इसके अतिरिक्त आचार, व्यवहार एवं जीवन स्तर की चर्चा ब्राह्मण ग्रंथों, सूत्र ग्रंथों आदि में भी वर्णित है। परन्तु स्मृति ग्रंथों में एक अलग और पूर्णतः भिन्न विवेचन मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सात्विक दृष्टि से तो स्मृतियाँ कुछ अलग विवेचन नहीं करती हैं परन्तु वे उन्हीं आदर्शों का पालन करती हैं जिनका चित्रण वेदों पुराणों में उपलब्ध है। अन्तर केवल इतना है कि जो विषय ब्राह्मण एवं पुराणों आदि में स्पष्ट न थे उनका स्मृतियों ने स्पष्ट एवं तर्क पूर्ण ढंग से विवेचन प्रस्तुत किया है। स्मृतियों में हमें पूर्ण विचार स्वातंत्र्य मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथ वैदिक सम्प्रदाय तक ही सीमित है। सूत्रकारों ने वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्याकर्तव्य का प्रतिपादन मात्र कर दिया है। दूसरी ओर स्मृतियों ने वर्णाश्रम धर्म की कर्तव्याकर्तव्य की पद्धतियों पर पूर्णतः प्रकाश डाला है और उसके साथ ही साथ राजधर्म की विस्तृत मीमांसा और उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में भी विचार विमर्श प्रस्तुत किया जिसके सम्बन्ध में सूत्र एवं ब्राह्मण ग्रंथ मौन साधे आ रहे थे। मानव धर्मशास्त्र से पूर्ववर्ती ग्रंथों में धर्म और अर्थ को विभिन्नता से देखने की परम्परा चली आ रही थी वह परम्परा स्मृति ग्रंथों में पूर्णतः परिवर्तित हो जाती है। मनुस्मृति में सर्वप्रथम अर्थ को धर्म की पृष्ठभूमि में आबद्ध कर दिया जाता है। और मनु स्पष्ट घोषणा करते हैं—

'धर्मवर्जितो अर्थकामो न सेवेत्' अर्थात् धर्म शून्य अर्थ और काम का सदैव परत्याग कर देना चाहिए। यह प्रयास मनुस्मृतिकार का सर्वथा नूतन एवं मौलिक है।

धर्म और अर्थ को एक समन्वित रूप से देखने वाली मनुस्मृति की भावना का निर्वाह आगे चलकर वशिष्ठ धर्म सूत्र, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में पूर्णरूप से होता है। वृहस्पति स्मृति और कात्यायन स्मृति में हम राजधर्म की न्यूनता और धर्म की प्रधानता के दर्शन करते हैं।

यद्यपि स्मृति ग्रंथों की प्रमाणिकता से सम्बन्धित एक प्रश्न उठता है कि क्या स्मृति के विधि ग्रंथों की भाँति उस समय राजकीय कानून के रूप में व्यवहृत थे अथवा ग्रंथकारों की तत्सामायिक स्मृतियाँ मात्र थीं? इस पर कुछ विद्वानों ने स्मृति ग्रंथों को तत्कालीन विधान की आलोचना के रूप में स्वीकार किया है। विधिग्रंथों के रूप में

नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का कथन है कि स्मृतिग्रंथ ही अपने युग के राजकीय विधि ग्रंथ थे और उन पर राजकीय स्वीकृति की मुद्रा थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकाल से लेकर क्रमशः सामाजिक विकास एवं परिवर्तन की स्थिति का खरा रूप स्मृति ग्रंथों में मिलता है। फलतः हम कह सकते हैं कि स्मृति काल प्राचीन भारतीय विचार परम्परा का पूर्ण विकसित काल है। इन स्मृतियों की परम्परा में मनुस्मृति का विषयों की विवेचन प्रणाली एवं विषयों के वैविध्य की दृष्टि से एक अपूर्व एवं महत्वपूर्ण स्थान है। मनुस्मृति में मनु ने मानव जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी उपयोगी विषयों का वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक तथा तर्कसंगत चित्रण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त हम मनुस्मृति को एक शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी यदि देखें तो प्रतीत होता है कि इसकी चिंतन प्रणाली पूर्ण वैदिक है। अध्ययन की गंभीरता के द्वारा मानव जीवन का कोना-कोना झाँका जा सकता है। इसीलिये तो यह स्मृति सर्व प्राचीन होते हुए भी उपयोगिता के क्षेत्र में चिर नवीन प्रतीत होती है।



मनु सम्बन्धी धारणायें

मनुस्मृति के रचयिता मनु के विषय में कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है परन्तु मनु का नामोल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर मिलता है। तैत्तरीय (1.94) में एक उल्लेख है 'मनुः पुत्रेयो दायं व्यभजत्' अर्थात् मनु ने अपने पुत्रों में अपनी सम्पत्ति का विभाजन किया। इसी प्रकार भगवद्गीता (4.1) में वैवस्वत मनु तथा उन के पुत्र इक्ष्वाकु का नाम मिलता है। निरुक्तकार यास्क ने भी 'मनु स्वायंभुवो व्रवीत' (निरुक्त 3, 4, पृ० 251) के रूप में मनु की ओर संकेत किया है। मनु का नाम निर्देश करते हुए (गौतम धर्म सूत्र 21.83) 'श्रीणि प्रथमानि अनिर्दश्यानि मनुः' इस रूप में मनु का संकेत किया है।

काणे (Kane) के अनुसार महाभारत ने स्वायंभुव मनु और प्राचेतस् मनु दो भिन्न व्यक्तियों के नामों का अलग-अगल उल्लेख किया है। इन दोनों में स्वायंभुव धर्म शास्त्र के और प्राचेतस् अर्थ शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं।

इस समय उपलब्ध मनुस्मृति के अध्ययन से प्रतीत होता है कि काणे ने जो प्राचेतस् मनु और स्वायंभुव मनु इस प्रकार दो मनुओं की कल्पना की है वह सम्भवतः दोनों एक ही थे क्योंकि मनुस्मृति में एक स्थल पर एक शंका उपस्थित की गयी है कि धर्ममूलक वेदों के रहते स्मृतियों के रचना की क्या आवश्वकता थी। इसके उत्तर में कहा है कि 'कालक्रम के प्रभाव से भविष्य में अधिकतम मानव वेद के गहन विषय को नहीं समझ सकेंगे' यह सोचकर त्रिकालदर्शी लोक पितामह ब्रह्मा ने अपने मानस पुत्र मनु को वेदों के सारभूत तत्व का एक लाख श्लोकों में उपदेश किया। इसके बाद मनु ने ब्रह्मा के उपदेश को और संक्षेप में वर्णन किया। जिसका बाद में भृगु ने मनु के ही शब्दों में संकलन किया। इससे यह ज्ञात होता है कि आदि मनु स्वायंभुव ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। उन्होंने ही अर्थ, धर्म सम्बन्धी सभी तत्वों का उपदेश किया जिसका संकलन अर्थशास्त्र और धर्म शास्त्र के रूप में किया गया न कि दो मनुओं ने इसकी रचना की। एक बात अवश्य है जिसका प्रतिपादन मनुस्मृति में भी मिलता है वह यह कि स्वायंभुव मनु के बाद इसी वंश परम्परा में 6 और मनुओं ने जन्म ग्रहण किया जिन्होंने इसी स्वायंभुव मनु के द्वारा प्रतिपादित नियमों के अनुकूल अपनी-अपनी प्रजाओं की सृष्टि की ओर मानव धर्म का प्रचार किया।[1]

ये 6 मनु स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी वैवास्वत (सूर्य के पुत्र) नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] इन मनुओं ने कालक्रम से सृष्टि का विस्तार इस कोटि में दर्शनकार, उपनिषदकार, निरुक्त वैयाकरण तथा शंकराचार्य भी आते हैं

1. मनु० 1.61
2. मनु० 1.62

किया । 'मनु शब्द भिन्न-भिन्न विभक्तियों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद में मिलता है । इसीलिए अनेकशः विद्वानों ने मनुस्मृतिकार को वेद कालीन बताने का प्रयास किया है । ऋग्वेद 1।80 ।16 1।114।2। 2।33।13। में मनु और पिता दो शण्द साथ-साथ आये हैं । इससे लोगों ने यह अनुमान किया कि यह वही प्रजापति मनु हैं जिन्होंने सृष्टि को उत्पन्न किया तथा मनुस्मृति की नींव डाली । परन्तु यह मत वेदों को अपौरूषेय मानने वालों को कदापि अभिमत नहीं हो सकता है । स्वामी दयानन्द का तो स्पष्ट कथन है कि वेदों में किसी पुरुष का उल्लेख नहीं है ।

यदि निरुक्तकार या स्काचार्य का मत ठीक है कि वेदों में समस्त पद यौगिक है तो यह मानना पड़ेगा कि किसी विशेष पुरुष का नाम 'मनु' होने से पूर्व यह शब्द अपने यौगिक अर्थ में बहुत काल तक प्रचलित रहा ही होगा । यह आज कल भी समस्त व्यक्ति वाचक संज्ञाओं के साथ घटती है । इसलिए इसमें कुछ भी सन्देह का विषय नहीं कि 'मनु' शब्द का वेद मंत्रों में यौगिक अर्थ किया जाय । यजुर्वेद 5।16 में आये हुए 'मनवे' शब्द का अर्थ उव्बट ने 'यजमानाय' और महीधर ने 'जानातीति मनुर्ज्ञतनवान यजमानः' किया है इसी प्रकार यदि ऋग्वेदः में भी 'मनु' का अर्थ ज्ञानवान करना अनुचित न होगा इस प्रकार इन शब्दों का ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्ध जोड़ना उपयुक्त न होगा ।

इस प्रकार यदि हम सोचें तो वेद में आये मनु शब्द से मनुस्मृतिकार का सम्बन्ध युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है । ऋग्वेद 8।30।3 में एक प्रार्थना की गयी है कि 'मानः पथः पित्र्यान् मानवादधिदूरे नैष्ट परात्तः' अर्थात् हम अपने पूर्वजों के बुद्धि-पूर्वक मार्ग से विचलित न हों । इसमें कुछ लोगों ने 'मानवात् पथः का अर्थ मनु जी के बतलाये गये मार्ग का अर्थ निकाला है ।[1]

ऋग्वेद 10।63।7 में 'येभ्यो होत्र प्रथमामायेजेमनुः' ऐसा उल्लेख है जिससे भी कुछ विद्वान यहाँ मनु विशेष व्यक्ति का अनुमान करते हैं । वैसे वेद में आये 'मनु' शब्द का अर्थ ईश्वर भी किया जा सकता है क्योंकि स्वयं मनुस्मृति में भी मनु को ईश्वर कहा गया है ।

'एतमेके वदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् । (मनु० 12.123)

अर्थात् कुछ लोग ईश्वर को अग्नि, कुछ लोग 'मनु', कुछ लोग प्रजापति और कुछ लोग, इन्द्र एवं कुछ लोग प्राण तथा 'ब्रह्मशाश्तत' नाम से पुकारते हैं । इस प्रकार वेद में आये मनु को भी हम ईश्वर कह सकते हैं ।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के ऋषि भी मनु हैं । क्या ये ही मनु तो नहीं थे जिन्होंने बाद में मनुस्मृति के रूप में अपने उपदेशों का तत्व प्रकाशित किया । यास्काचार्य

1. Vice Principles of Hindu Law Volume I
by Jogendra Chandra Ghosh and P. V. Kana's History
of Cham Shastra.

का भी कथन है कि ऋषि मंत्रों के दृष्टा थे। ऋषयः मंत्र दृष्टारः अतः आदर की दृष्टि से उनका नाम मंत्रों के प्रारम्भ में लिखा चला आ रहा है। इस प्रकार मनु के सम्बन्ध में अनेक मत हैं परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुस्मृति का सम्बन्ध पूर्णतः वेद से है और मनुस्मृति का कर्त्ता कोई वेदज्ञ प्रचीनतम् ऋषि था। जिसने मानव कल्याण के लिए वेद के तत्व को समझाने के लिए इस ग्रंथ का प्रणयन किया।

यद्यपि मनु के सम्बन्ध में किसी निश्चित प्रमाण के न उपलब्ध होने के कारण बड़ा ही विवाद है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कोई न कोई विद्वान मनु अवश्य थे। जिन्होंने आचार और व्यवहार के सम्बन्ध में नियम बनाये जिसका नाम मानव धर्मशास्त्र या मनुस्मृति पड़ गया। 'मनु' इस नाम की गरिमा का परिचय हमें पाश्चात्य देशों के इतिहासों से भी पता चलता है। इस नाम से अन्य देशों का भी इतिहास पूर्ण परिचित है। संभवतः विश्व में आचारशास्त्र का आदिम स्रोत यही है।

सर विलियम जान्स (Sir W. Jones) के शब्दों में

अर्थात् यूनानी भाषा के 'माइनोस' आदि शब्द संस्कृत भाषा के मनु शब्द के ही विकृत रूप हैं।

वी० गुरु राजाराउ ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि यदि हम यह अनुसन्धान दूसरों के लिए छोड़ दें कि ब्रह्मा का पुत्र मनु वही है जिसे क्रीट वालों का धर्मशास्त्र रचयिता माइनौस, ज्यूपीटर का पुत्र कहा जाता है (और जिसके विषय में कहा जाता है कि वही म्नयूयस का जिने मिश्र देश के देवता हर्मीज से धर्मशास्त्र सीखा और मिश्र देश का पहला राजा बना) तो भी जोन्स के इस उद्धरण पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि दारा शिकोह का यह विचार कुछ अनुचित न था कि ब्राह्मणों का आदि मनु वही है जो मनुष्य जाति का पूर्वज समझा जाता है और जिसको यहूदी, ईसाई और मुसलमान आदम नाम से पुकारते हैं।[1]

यह कहाँ तक सत्य है इस पर पूर्ण विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि विश्व के जितने कानून निर्माता हुए हैं उन सब का नाम मनु के नाम से सिलता-जुलता है और उनकी परम्परा भी मनु के द्वारा निर्मित प्रणाली से पूर्णतया प्रभावित है। इस प्रभाव के संभवतः दो कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि मनु के उपदेश ही दूसरों में किसी न किसी साधन द्वारा और किसी न किसी रूप में गये होंगे और संस्कृत नाम मनु का ही उन भाषाओं में विकृत रूप हो गया हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मनु का नाम कानून निर्माताओं के लिए इतना प्रख्यात हो गया हो कि वह भारत वर्ष में व्यक्ति वाचक अन्य देशों में जाति वाचक बन गया हो अर्थात् अन्य देशीय कानून बनाने वालों ने भी अपने को इसी प्रसिद्ध नाम से सम्बोधित करने में गौरव समझा हो। इसी प्रकार यदि

1. (Qucted by B. Gum Rajah Rao In his Aneicnt Hindu Judieature).

हम सोचेंगे तो मनु, के नाम का गौरव सामाजिक विधि निर्माता के रूप में केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के रंगमंच पर भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

'मनुस्मृति तथा वैदिक साहित्य'

प्राचीन आर्य जाति की विकसित सभ्यता का मानव धर्म शास्त्र के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सम्भव हो सकता है कि काल के पर्याप्त परिवर्तित आवरण के कारण हम भले ही मनुस्मृति के आक्षेपों का समाधान न कर सकें, परन्तु यह तो सुनिश्चित है कि मानवधर्म शास्त्र वैदिक साहित्य की गरिमा की एक प्रमाणस्वरूप कड़ी है। इस शास्त्र के कर्त्ता 'मनु' अवश्य ही कोई महापुरुष थे। जिनके उपदेश आर्य सभ्यता के निर्माण तथा जीवन स्थिति के लिए बड़े भारी साधक सिद्ध हुए।

निरुक्तकार यास्काचार्य ने दायभाग के विषय में मनु को प्रमाण मानते हुए कहा है कि बिना भेद के स्त्री और पुमान दोनों प्रकार के पुत्र (अर्थात् लड़की और लड़का दोनों) दायभाग के अधिकारी होते हैं यह बात ऋचा और श्लोक से कही गयी है ? पुत्र अंग-अंग से उत्पन्न होता है हृदय से उत्पन्न होता है इसलिए पुत्र आत्मा ही है वह सौ वर्ष तक जीवे (यह ऋचा हुई) धर्म अर्थात् कानून की दृष्टि से दोनों प्रकार के पुत्रों (अर्थात् लड़का और लड़की) की दायभाग मिलता है ऐसा सृष्टि के आदि में स्वायंभुव मनु ने कहा है। (यह श्लोक हुआ)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यों के जीवन में श्रुति और स्मृति दो प्रमाण सर्वमान्य थे। श्रुति स्वतः प्रमाण है और स्मृति परतः प्रमाण है। मेधातिथि ने भी एक स्थल पर मनुस्मृति का प्रमाणत्व वर्णित किया है। उन्होंने कहा है 'ऋग्वेद साम-वेद तथा यजुर्वेद एवं अथर्ववेद का उपदेश ऋषियों ने किया था परन्तु धर्म का उपदेश मनु ने किया।

'वर्तमान मनुस्मृति और मनु'

यद्यपि यह तो निर्विवाद है कि 'मनु' एक प्रसिद्ध महापुरुष थे। वे तपस्वी थे, अथवा राजा थे या ऋषि थे या साक्षात् सृष्टिकर्ता के अवतार थे इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि वह क्या थे। कहीं तो उनको सृष्टि का आदि कर्ता कहा गया है। तो कहीं राजा कहा गया है तो कहीं ऋषि के रूप में कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है 'मनु वैवस्वत राजा है मनुष्य उसकी प्रजा है।[1] यहाँ स्पष्ट शब्दों में मनु को एक राजा कहा गया। मेधातिथि ने अपने भाष्य के आरंभ में लिखा है कि 'मनु कोई पुरुष विशेष था जो वेदों की अनेक शाखाओं के लिए प्रसिद्ध हो गया।[2] इस प्रकार यह तो स्वतः सिद्ध है कि मनु लोकाचार मर्मज्ञ वेद के ज्ञाता कोई महापुरुष अवश्य थे जिनकी इतनी बड़ी ख्याति उपलब्धि हुई।

1. श० पा० 13।4।3।3
2. 'मेधातिथि भाष्य का प्रारम्भ'

अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रचलित मनुस्मृति उसी महापुरुष की निर्मित है कि नहीं ? यद्यपि इस प्रश्न पर अनेक विचार धारायें हैं। कुछ लोगों का कथन है यह मनु द्वारा विरचित श्लोकों का एक संग्रह है और कुछ लोगों का कथन है कि यह मनु के उपदेशों का तत्व है जिसको श्लोक रूप में किसी अन्य ने संग्रह किया है। यदि विचार किया जाय तो यही स्पष्ट भी होता है कि जिसको हम मनुस्मृति कहते हैं उसका नाम भृगुसंहिता है। यह किंवदन्ती है कि भृगु और उनके शिष्यों ने इसको श्लोकवद्ध किया। मनुस्मृति में भी लिखा गया है कि एक बार मनु ने महर्षियों से कहा इस शास्त्र को ब्रह्मा ने मुझे (मनु को) पहले पढ़ाया और मैंने मनु आदि शिष्यों को पढ़ा दिया है अतः आप लोगों के सामने उपस्थित भृगु जी आप लोगों को इस मानव शास्त्र का उपदेश करेंगे जो वेदमूलक हैं। इसके बाद भृगु ने महर्षियों को मनुशास्त्र का श्रवण करने के लिए सचेत किया।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्तमान मनुस्मृति मनु द्वारा उपदिष्ट उपदेशों का बाद में उनके शिष्यों ने श्लोक में वद्ध किया होगा।

फिर भी मनुस्मृति कोई नवीन पुस्तक नहीं कही जा सकती है। यह अत्यन्त ही प्राचीन ग्रंथ है। पतंजलि ने महाभाष्य में पाणिनि के एक सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' पर भाष्य लिखते हुए एक श्लोक लिखा है 'उर्ध्वं पाणा व्युत्कामन्तियूनः स्थविरः श्रापति।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान प्रतिपद्यते। यह श्लोक मनुस्मृति अध्याय 2।1 20 में ज्यों का त्यों बड़ो के प्रणाम का फल बतलाने के प्रसंग में लिखा गया है इससे स्पष्ट होता है मनुस्मृति की रचना का प्रभाव पातंजलि के समय पूर्ण व्याप्त था।

डा० व्यूलर (Buhlar) महोदय ने भी अपनी पुस्तक Laws of Manu की भूमिका में लिखा है कि वल्लभी लेख पुस्तकों में जो ध्रुव सेन प्रथम, गृह सेन द्वितीय धारसेन से सम्बन्ध रखते हैं और जिनमें सबसे प्राचीन 207 सम्वत् या 526 ई० के पश्चात् का नहीं है वल्लभी वंश के प्रथम महाराज द्रोणसिंह के विषय में जो ध्रुवसेन प्रथम से पूर्व राजगद्दी पर बैठा था लिखा है कि वह धर्मराज (युधिष्ठिर) के समान मनु आदि के उपदेशों पर चलता था (मन्वादि प्रणीत विधि विधान कर्मा)।[2]

इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति सभी स्मृतियों में प्राचीन-तम है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के लगभग दो सौ श्लोकों को उद्धृत किया है। जो इस समय भी मनुस्मृति में उपलब्ध हैं। श्री शंकराचार्य ने भी अपने वेदान्त भाषा में मनुस्मृति के बहुत से श्लोकों का उल्लेख किया है। कुमारिल की तंत्रवार्तिक तो मनु के आधार पर ही है। कुमारिल ने मनुस्मृति को केवल सब स्मृतियों में ही श्रेष्ठ नहीं वरन् गौतम सूत्रों आदि से भी अधिक प्रतिष्ठित स्वीकार

1. मनु० 1.59,60
2. Law of Manu by 'Buhlar'

किया है। कुल्लूक भट्ट ने 'मन्वार्थ मुक्तावली' में मनुस्मृति के पहले श्लोक की व्याख्या करते हुए वृहस्पति के एक श्लोक को उद्धत किया है। जिसमें उन्होंने कहा कि मनुस्मृति का प्राधान्य इसलिये है कि वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करती है। जो स्मृति मनु के विपरीत है वह माननीय नहीं हो सकती। तर्क व्याकरण आदि शास्त्रों की शोभा तभी तक है जब तक धर्म, अर्थ और मोक्ष के उपदेष्टा मनु पर दृष्टि नहीं जाती है।

इसी प्रकार परार्क ने याज्ञवल्क्य स्मृति के 2।21 की व्याख्या में मनु के पहले श्लोक का उद्धरण दिया है। अश्वघोष की 'वज्रसूची' में मानव धर्म से कई श्लोक लिये गये हैं। जो वर्तमान मनुस्मृति के ही हैं। वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा काण्ड 18। 30।32 में मनुस्मृति के आठवें अध्याय के दो श्लोकों का उद्धरण मिलता है। इस भारतीय साहित्य में मनुस्मृति का एक साम्राज्य सा दिखलाई पड़ता है।

केवल भारत में ही नहीं मनुस्मृति का प्रभाव पड़ा अपितु भारत के बाहर भी मनुस्मृति का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। पी० वी० काणे महोदय ने अपनी पुस्तक History of Dharmshastra में लिखा है कि ब्रह्मदेश और बाली द्वीप के धर्मशास्त्र मनुस्मृति से बहुत कुछ सादृश्य रखते हैं। एक प्रस्तर लेख में दो श्लोक दिये हैं जिनमें से एक तो जो मनु० 2।136 से पूर्णतया मिलता है दूसरा मनु० 3।77-80 का सार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति का प्रभाव केवल भारत ही में नहीं अपितु अन्य देश के भी विधि ग्रंथों पर पर्याप्त था।

□□

मनुस्मृति का काल

स्मृतियों की परम्परा में मनुस्मृति का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसके (मनुस्मृति) अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इस (मनुस्मृति) की रचना मनु स्वायंभुव ने किया[1] एक बार ऋषिगण वर्णों और आश्रमों की धर्म व्यवस्था को जानने की अभिलाषा से प्रसन्नचित, एकाग्र बैठे हुए स्वायंभुव मनु के पास गये। उनके पास पहुँच कर ऋषियों ने सर्वप्रथम मनु का अभिनन्दन किया एवं कुशल प्रश्न के बाद धर्म सम्बन्धी प्रश्न किया। इसके बाद मनु ने कुछ अपने मुखारविन्द से उपदेश करने के बाद वहीं पर उपस्थित भृगु जी की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह ज्ञान हमने ब्रह्म से प्राप्त किया था और मारीच भृगु आदि मुनियों को पूर्णतया पढ़ा दिया है। ये भृगु जी (जो वहाँ उपस्थित थे) अब आप लोगों के प्रश्नों का सम्यक् समाधान करेंगे।

इसके पश्चात् मनु की आज्ञा प्राप्तकर भृगु जी ने मनु के ही समक्ष उन्हीं के शब्दों में प्रवचन किया। इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम मनु संहिता रखा गया। भृगु जी मनु के मुख स्वरूप थे अतः ग्रन्थ का नाम भृगु संहिता नहीं रखा गया क्योंकि भृगु के द्वारा कथित सम्पूर्ण उपदेश का दायित्व मनु पर है।

मनु सर्वज्ञ थे। सर्वज्ञ होने के कारण उनको भूत, भविष्य, एवं वर्तमान तीनों कालों का यथावत ज्ञान प्राप्त था। फलतः भविष्य की बातों के निर्देश को इस ग्रन्थ की प्राचीनता में बाधक नहीं समझना चाहिए।

मनु ने धर्म के मूलाधार के रूप में वेदों को ही स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी है कि इस ग्रन्थ (मनुस्मृति) में जो कुछ कहा गया है वह सब कुछ वेद मूलक ही है।[2] वेद मूलक होने के कारण मनुस्मृति को सर्वत्र प्रमाण माना जाता है। मनु को सर्वज्ञ तो माना ही गया है साथ ही साथ उन्हें इन्द्र, वायु तथा ब्रह्म के रूप में भी बतलाया गया है।

मनु का नामोल्लेख वेदों में भी कई स्थल पर आया है। तैत्तिरीय संहिता (1.94) में कहा गया है कि 'मनु पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्' अर्थात् मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में विभाजित किया। भगवद्गीता में भी मनु का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[3] निरुक्तकार यास्क ने भी मनु का नामोल्लेख किया है।[4] गौतम ने अपने धर्म सूत्र में मनु का इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख किया है—भीणि प्रथमानि अनिर्देश्यानि मनु : (गो० ध० सू० 21.8) इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्म प्रवक्ताओं ने मनु की सत्ता को

1. मनु० 12।126
2. (मनु० 2।7)
3. (गीता 4.1)
4. (निरुक्त 3.4 पृ० 251)

स्वीकार किया है परन्तु इतना अवश्य है कि स्वायंभुव मनु के द्वारा रचित वह प्राचीन शास्त्र आज उस रूप में उपलब्ध नहीं है फिर भी यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का उपलब्ध स्वरूप स्वायंभुव मनु द्वारा प्रतिपादित नियमों का संग्रह है जो परम्परा से चला आ रहा है।

इस समय उपलब्ध मनुस्मृति के मूलाधार के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से अपने-अपने मत का स्पष्टीकरण किया है।

जर्मन विद्वान व्यूलर (Buhler) मनुस्मृति का आधार ग्रन्थ मानव धर्म सूत्र को मानते हैं।[1] परन्तु काणे ने व्यूलर के मत का खण्डन उन्हीं (व्यूलर) के शब्दों में किया है। उनको (काणे का) कथन है कि व्यूलर ने स्वयं यह कहा है कि मानव सूत्र के लेखों के आविष्कार के बाद उसमें मनुस्मृति और मानव सूत्र के परस्पर सम्बन्धित होने के मत में सहायता मिलनी तो दूर रही प्रत्युत और कठिनाई बढ़ गयी, क्योंकि मानवसूत्र के सिद्धान्त में और मनुस्मृति के सिद्धान्त में अत्यन्त विरोध है।[2] इस मनुस्मृति का आधार ग्रन्थ मानव धर्म सूत्र नहीं हो सकता है।

व्यूलर ने वर्तमान मनुस्मृति का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० को स्वीकार किया है। काणे भी इस मत से सहमत है। परन्तु डा० जायसवाल व्यूलर के द्वारा प्रतिपादित मनुस्मृति का समय द्वितीय शताब्दी पूर्व ई० पू० ही मानते हैं। अन्य विद्वानों का मत है कि मनुस्मृति कौटिल्य के बाद की रचना है। ग्रीक विद्वानों के मतानुसार चन्द्र गुप्त मौर्य का समय 327 ई० पू० है। चन्द्र गुप्त मौर्य और कौटिल्य का सम्बन्ध अब ऐतिहासिक सत्य मान लिया गया है। यद्यपि नोली इस मत से सहमत नहीं है परन्तु डा० जायसवाल ने इसको अनेकशः प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि कौटिल्य चन्द्र गुप्त मौर्य के ही समकालीन थे। इस प्रकार मनुस्मृति में और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परस्पर तुलना करके तथा मनुस्मृति में प्रदर्शित ब्राह्मणों के प्रभुत्व आदि की दृष्टि से डा० जायसवाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुस्मृति की रचना ब्राह्मण राजा पुण्यमित्र के राज्य में अथवा उनके वंशजों के राज्य काल में हुई।

वैदेशिक विद्वानों ने मनुस्मृति तथा महाभारत में वर्णित राजधर्मों की तुलना के पश्चात् यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि महाभारत का राजधर्म संबंधी अंश मनुस्मृति के पूर्व का है। अनेक भारतीय विद्वानों ने भी दूसरे मत को स्वीकार किया है। परन्तु काणे का कथन है कि वर्तमान मनुस्मृति इस समय में उपलब्ध महाभारत से पूर्व की लिखी गयी है। इसके पक्ष में विचार करते हुए उनका कथन है कि मनुस्मृति में यद्यपि इतिहास शब्द बहुबचन में प्रयुक्त हुआ है परन्तु महाभारत का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। मनुस्मृति में अनेक ऐतिहासिक तथा आख्यानिक व्यक्तियों का उल्लेख है जिनके सम्बन्ध में महाभारत में भी उसी प्रकार के कथन मिलते हैं

1. Buhler following Maxmiller (S. B. E. Volume 25)
2. (S. B. E. Vol. 25)

परन्तु मनुस्मृति में यह उल्लेख नहीं है कि ये कथानक महाभारत से लिए गये हैं। महाभारत के प्रत्येक पर्व में 'मनु ब्रबीत' (मनु ने कहा) मनु का राजधर्म मनु का शास्त्र आदि अनेक प्रकार से मनुस्मृति का उल्लेख मिलता है। व्यूलर का कथन है कि महाभारत के वन, शान्ति अनुशासन इन तीन पर्वों में ही मनुस्मृति के 260 श्लोक हैं। ये श्लोक यदि पूर्णतः नहीं तो अंशतः अवश्य मनुस्मृति से साम्य रखते हैं। इसी आधार पर काणे का कथन है कि इन प्रमाणों से आपाततः यह सिद्ध होता है कि प्राचीनता में महाभारत की अपेक्षा मनुस्मृति का पक्ष प्रबल है।

हार्पकिंस का कथन है कि अनुशासन पर्व के लेखक को वर्तमान मनुस्मृति का ज्ञान था। यद्यपि हार्पकिंस और व्यूलर एक अन्य स्थल पर कहते हैं कि शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व के लेखक ने जो उल्लेख किया है वह मानव धर्म सूत्र के लिए अथवा इधर विकीर्ण श्लोकों से सम्बन्धित है। वर्तमान मनुस्मृति से नहीं है। इस प्रकार इन दोनों विद्वानों का विचार सन्देहपूर्ण है। उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मत का खंडन करते हुए काणे का कथन है कि चाहे जो कुछ हो परन्तु यह निश्चित है कि मनु के नाम पर निर्मित ग्रन्थ शताब्दी ई० पू० से बहुत पूर्व का था। इसी प्रकार दूसरा ग्रन्थ राजधर्म पर था जो प्राचेतस् मनु के नाम से प्रसिद्ध था। वह भी ई० पू० चौथी शताब्दी के पूर्व था।[1] यह भी सम्भव हो सकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही रहे हों। यही गन्थ वर्तमान मनुस्मृति का मूलाधार है। इस प्रकार अनेक तर्कों के द्वारा काणे ने यह सिद्ध किया है कि इस समय प्राप्त मनुस्मृति महाभारत के पूर्व की है।

डा० जायसवाल मनुस्मृति का रचना काल शुंग शासक ब्राह्मण पुष्यमित्र अथवा उनके उत्तराधिकारियों के शासन काल को मानते हैं। उनका कथन है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण थे, मनुस्मृति में पद-पद पर ब्राह्मणों की उत्कर्ष दिखलाया गया है। अतः यह निर्विवाद है कि मनुस्मृति इन्हीं ब्राह्मण राजाओं का स्तुतिगान करने के लिए लिखी गयी।

डा० जायसवाल की एक दूसरी पुष्टि के अनुसार 'पतजंलि ने व्याकरण महा-भाष्य लिखा है इसमें उन्होंने एक उद्धरण के प्रसंग में कहा है कि 'इह पुष्यमित्रं याजयामः (यहाँ हम पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं) इसमें वर्तमान काल के निर्देश से सिद्ध होता है कि पतंजलि और पुष्यमित्र समकालीन थे। पतंजलि ने धर्मसूत्र का उल्लेख किया है परन्तु मनुस्मृति का नाम नहीं है। यदि मनुस्मृति का निर्माण उससे पहले हुआ होता तो इसका भी संकेत अवश्य प्राप्त होता। पतंजलि ने अपना ग्रन्थ 182 ई० पू० लिखा होगा क्योंकि पुष्यमित्र के राजसूय यज्ञ का यही समय हो सकता है। महाभाष्य में पतंजलि ने मनुस्मृति का उल्लेख नहीं किया इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति महाभाष्य के बाद लिखी गयी।[2]

पुनः डा० जायसवाल ने इस बात पर बल दिया है कि यह काल ब्राह्मणत्व के पुन-

1. Idid Page 135-145
2. K. P. Jayaswal : Manu and Yaj. P. 27

रुत्थान का समय था क्योंकि शुंग और उनके परवर्ती काण्वायन ब्राह्मण राजा थे।[1] इस प्रकार डा० जायसवाल मानव विधिशास्त्र पर धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पक्षपातों का प्रबल आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि शुंग कालीन मनु ने विधर्मी राजा के लिए अपनी घृणा को धर्म नियम में समाविष्ट कर दिया। मनुस्मृति में ब्राह्मणों का अधिकार समर्थन इसलिए सर्वमान्य हो गया क्योंकि उस समय ब्राह्मणों का आधिपत्य था।[2]

डा० जायसवाल मनुस्मृति और पुष्यमित्र के सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए एक दूसरा तर्क उपस्थित करते हैं। उनका कथन है कि पुष्यमित्र की राजसत्ता को प्रबल बनाने के उद्देश्य से ही मनु ने राजा को इन्द्र, वरुण आदि के रूप में चित्रित किया। उसका आशय यह था कि इस प्रकार राजा पर देवत्व का आरोप कर देने पर आस्तिक वर्ग अन्ध भक्त हो जायेगा और बिना किसी चूं चपेट के सभी राजनियमों को स्वीकार कर लेगा। दूसरी ओर ब्राह्मण राजा होने के कारण ब्राह्मणत्व अपने आप चमत्कृत हो जायेगा परन्तु इस प्रकार के उल्लेख के तुरन्त बाद मनुस्मृति के लेखक के समक्ष एक बात यह उपस्थित हुई कि राजा मात्र में इन्द्र, वरुण का आरोप कर देने से पुष्यमित्र का प्रभाव तो अवश्य बढ़ जायेगा परन्तु उसके साथ ही साथ पुष्यमित्र के द्वारा पराजित राजाओं में भी वही लक्षण आने लगेगा अतः मनुस्मृतिकार ने इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए दण्ड की नवीन कल्पना करके उस नवीन दण्ड को राजा का भी राजा बना दिया।[3] इस प्रकार डा० जायसवाल अपनी कल्पना के आधार पर मनुस्मृति को शुंग कालीन मानते हैं परन्तु यदि उनके उद्धरणों पर विचार किया जाय जिसमें उन्होंने कहा है कि मनुस्मृति महाभाष्य की रचना के बाद लिखी गयी क्योंकि उसमें मनुस्मृति का कोई उल्लेख नहीं है सर्वथा असंगत प्रतीत होता है क्योंकि पतंजलि का महाभाष्य व्याकरण विषय पर लिखा गया था वह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है। उदाहरणों के प्रवाह में यदि सूत्र ग्रन्थ की चर्चा आ गयी तो इससे यह अर्थ निकालना कि पतंजलि को सूत्र ग्रन्थों का परिज्ञान था मनुस्मृति का नही था यह तो कोरी कल्पना ही है। न मनुस्मृति में महाभाष्य का उल्लेख है और न महाभाष्य में मनुस्मृति का उल्लेख है अतः दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध मानने का कोई आधार ही नहीं है। डा० जायसवाल ने जिस तर्क के द्वारा महाभाष्य को मनुस्मृति का पूर्ववर्ती कहा है उसी तर्क के द्वारा मनुस्मृति को महाभाष्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ कहा जा सकता है।

दूसरी ओर डा जायसवाल का यह तर्क भी असंगत प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण थे अतः उनके राज शासन को सुदृढ़ बनाने के लिये और ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा के लिये राजा में इन्द्र और वरुण का आरोप किया, क्योंकि जहाँ पर मनु ने राजा में देवत्व का सन्निवेश किया है वहीं उसको अपने देवत्व के अनुरूप कार्य करने

1. I. hid. P. 29
2. I, bid. P. 42
3. Dr. Jayawal : Hindu Polity P. 235-239

का भी विधान किया है। उनका कथन है कि यदि राजा अपने देवत्व को अपनी स्वेच्छाचारिता अथवा अपार शक्तिमत्ता का स्रोत समझकर मनमाना कार्य करता है तो वहाँ पर मनु ने वेन आदि ऐतिहासिक राजाओं का उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐसा करने पर राजा तुरन्त पदच्युत किया जा सकता है। राजा की असीमित शक्ति उसके देवत्व के कारण नहीं प्राप्त होती है बल्कि उसका देवत्व ही उसके लिये सुदृढ़ सीमा प्रस्तुत करता है।

पुनः डा० जायसवाल का यह कथन भी असंगत प्रतीत होता है कि पुष्य मित्र ब्राह्मण थे तथा राजा थे इसलिये उनके राज शासन को दृढ़ करने के लिये उनके राज पंडितों ने राजा को इन्द्र, वरुण आदि देवों के रूप में चित्रित किया। यहाँ राजा पर देवत्व का आरोप उनके वास्तविक देवता रूप का द्योतक नहीं है अपितु उनकी महानता और महत्व का द्योतक है। इसी बात का स्पष्टीकरण मनुस्मृति के नवम् अध्याय में किया गया है कि राजा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के समान आचरण करें। इसके साथ ही साथ ब्राह्मणों की प्रशंसा का आरोप भी पूर्णतः असंगत है। क्योंकि ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व की कल्पना मनु की अपनी कल्पना नहीं है क्योंकि 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद' आदि मंत्रों के द्वारा वेदों ने ही ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा का गान किया है। मनुस्मृति तो वेदों का ही स्रोत है अतः उसका वर्णन तो वेदों की घोषणा का समर्थन मात्र है।

डा० जायसवाल कौटिल्य के अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का मानते हैं। जबकि डा० जौली ने उसको चौथी शताब्दी का माना है। परन्तु अन्य विद्वान भी डा० जायसवाल के मत का समर्थन करते हैं और कौटिल्य के अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त का समकालीन मानने लगे हैं। एक अन्य स्थल पर डा० जायसवाल ने मनुस्मृति के समय को कौटिल्य के 150 वर्ष बाद माना है। उनका कहना है कि कौटिल्य का मनुस्मृति के ऊपर पर्याप्त प्रभाव है। जबकि मानव धर्म शास्त्र कौटिल्य के विपरीत मत का प्रतिपादन करता है।

याज्ञवल्क्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में से बहुत सा विषय ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं। उनका यह भी कहना है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र संसार के प्राचीनतम विधि शास्त्रों में से एक है और अन्य की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। अजित कुमार जैन ने मनुस्मृति की रचना के विषय में एक नूतन कल्पना की है। उनका कथन है कि राजाश्रय की सहायता से बौद्धों के द्वारा प्रचारित हिन्दू धर्म को सर्व शक्तिमान घोषित किया गया; परन्तु जब उन्होंने देखा इसका विपरीत परिणाम हो जायेगा तो मनु ने उक्त नियम में संशोधन कर दिया जो महत्वपूर्ण था।[1]

वरदाचार्य भी डा० जायसवाल के मत का स्पष्ट खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुस्मृति और कौटिल्य का अर्थ शास्त्र के मुख्य तत्व में भेद है। इस विषय में आयंगर का मत अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। उनका

1. A. K. Sen. Studies in Hindu Political thxought P. 120

कथन है कि मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में क्षमता की मात्रा अधिक है। अर्थशास्त्र ने अधिकांशतः मनुस्मृति के ही मत को प्रमाणित किया है।

डा० जायसवाल का यह प्रबल आक्षेप है कि मनु ने ही ब्राह्मणों की अनुचित महत्ता दिखलायी है। इसीलिये वे कहते हैं कि मनुस्मृति ब्राह्मणकाल में ब्राह्मणों के आधियत्य में लिखी गयी। परन्तु अन्य विद्वानों का कथन है कि डा० जायसवाल का यह आक्षेप पूर्ण असंगत है। क्योंकि ब्राह्मणों का महत्व तो अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। जिन कौटिल्य को डा० जायसवाल धर्म निरपेक्ष मानते हैं वे भी वर्णव्यवस्था का अनुमोदन करते हैं। अतः वर्णाश्रम व्यवस्था के स्वीकरण से तो ब्राह्मणों की महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी अन्य स्मृतियों के समान ब्राह्मणों का विशेष महत्व प्रतिपादन किया गया है। जो देवता पूजन के लिये भी विशेष व्यवस्था की गयी है।

कुछ अन्य विद्वान डा० जायसवाल के इस मत का भी खण्डन करते हैं कि मनुस्मृति के ऊपर कौटिल्य का अधिक प्रभाव है क्योंकि मनुस्मृति में अनेक स्थलों में कौटिल्य का विरोध है। जबकि याज्ञवल्क्य स्मृति कौटिल्य से पूरा का पूरा उद्धरण करती है। इसके अतिरिक्त आयंगर महोदय ने जो तुलना की है उससे तो पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि मनु और कौटिल्य के मुख्य धर्म में अधिकांशतः समता ही है।

अब प्रश्न उठता है कि मनुस्मृति पहले लिखी गयी अथवा कौटिल्य का अर्थशास्त्र। डा० जायसवाल ने मनुस्मृति को शुंग कालीन मानकर तर्क किया है अतः उनके अनुसार कौटिल्य का अर्थशात्र ही पूर्व का है। आयंगर महोदय का कथन है कि यदि हम डा० व्यूलर (Buhler) का मत मान लें जैसा कि उन्होंने लिखा है कि मनुस्मृति से उस समय की स्थिति ज्ञात होती है जब कानून का नियमित विवेचन केवल प्रारम्भ ही हुआ था तो इस सिद्धान्त के अनुसार मनुस्मृति कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्व की सिद्ध हो जाती है। केवल व्यूलर ही नहीं अन्य विद्वान इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि मनु की अपेक्षा कौटिल्य का विवेचन अधिक वैज्ञानिक है। ऐसी स्थिति में अवश्य ही कौटिल्य को बाद का माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मनु ने कौटिल्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है जबकि कौटिल्य ने अनेक स्थलों पर मानवाः कह कर मनु के मत का उल्लेख किया है।

आयंगर महोदय सूत्र ग्रंथों आदि के अध्ययन के आधार पर मनुस्मृति को बहुत प्राचीन मानते हैं। यद्यपि कुछ अंश उनको बहुत खटकते हैं जिसको वे प्रक्षिप्तांश की संज्ञा देते हैं। परन्तु फिर भी एक स्थल पर उनका कथन है कि सर्वज्ञ होने के नाते भविष्य की बातों का उल्लेख असंगत नहीं माना जा सकता है।

व्यूलर (Buhler) तथा काणें (Kane) वर्तमान मनुस्मृति के समय को अधिक से अधिक द्वितीय शताब्दी ई० पू० माना है। व्यूलर ने 200 ई० पू० से लेकर 200 ई० पश्चात् तक का लगभग चार सौ वर्ष का समय माना है। इसी के बीच किसी समय इस मनुस्मृति की रचना हुई। काणें (Kane) ने भी इसी का समर्थन किया है। आयंगर महोदय ने इसे और अधिक पूर्व का माना है।

भगवत्‌दत्त जी वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि मनु के दो श्लोक रामायण में ज्यों के त्यों मिलते हैं। जिससे यह सिद्ध होता है कि मनु का जो वर्तमानस्वरूप जो पद्य के रूप में मिलता है वह पहले भी वैसे ही पद्यवद्ध था।

इस प्रकार मनुस्मृति के वर्तमान स्वरूप पर भी कुछ सन्देह नहीं कि वह अपनी प्राचीन स्वरूपता में परिवर्तित है। वह जैसे पहले पद्यवद्ध थी वैसे आज भी है।

इन उपर्युक्त विद्वानों के त र्कसे यह निष्कर्ष निकलता है—

(1) वर्तमान मनुस्मृति का स्वरूप ई० द्वितीय शताब्दी पूर्व तक हो सकता है। इससे अब प्रायः सभी विद्वानों ने मान लिया है। ब्यूलर (Buhler) तथा कार्णे (Kanc) इस सीमा को स्वीकार करते हैं परन्तु वे यह भी कहते हैं कि उसके बाद की सीमा ई० सन् के प्रारम्भ तक जा सकती है।

(2) डा० जायसवाल ने प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मनुस्मृति के समय की सीमा ईसवी सन् से पूर्व ही है।

(3) डा० जायसवाल ने उसे पुष्यमित्र आदि शुंग वंशीय राजाओं के काल में सिद्ध किया है। परन्तु इनके इस मत का खंडन कर दिया गया है।

(4) आयंगर ने उसे (मनुस्मृति) कौटिल्य से पूर्व का सिद्ध किया है। परन्तु यह लिखते हैं कि कम से कम द्वितीय ईसवी शताब्दी की पूर्व का होना निर्विवाद है।

(5) डा० भागवद्‌दत्त ने निश्चित तिथि नहीं दिया है परन्तु वे उसे (मनुस्मृति के) कौटिल्य धम्मपद की रचना वे लगभग चौथी शताब्दी की ई० पू० मानते हैं। अतः इनके मत से मनुस्मृति का काल उससे भी पूर्व का सिद्ध होता है।

(6) मैक्स डंकर ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वह 600 ई० पू० के लगभग लिखी गयी है।

(7) आयंगर ने धर्म सूत्रों के पूर्व ही मनुस्मृति का मूलाधार माना है।

महाभारत और वाल्मीकि रामायण इन दोनों ग्रन्थों में मनुस्मृति के समर्थन मिलते हैं। इसलिये मनुस्मृति की रचना इन ग्रन्थों से पूर्व की है। डा० जायसवाल भी महाभारत की रचना को मनुस्मृति के बाद का मानते हैं। इसी प्रकार भगवद्‌दत्त जी मनुस्मृति की रचना काल में छठीं या पाँचवीं शताब्दी के पूर्व मानते हैं। यही मत मैक्सडंकर का है। मनुस्मृति की रचना का काल इससे भी पूर्व का हो सकता है। मनुस्मृति ने यास्क का उल्लेख नहीं किया है परन्तु यास्क ने मनुस्मृति का उलेल्ख किया है। श्री काणे (Kane) महोदय के अनुसार यास्क का समय का 800 ई० पू० का है। भडंकर महोदय के अनुसार 750 ई० पू० तथा श्री आयंगर के शब्दों में 650 ई० पूर्व है। यास्क ने कई स्थान पर मनु का उल्लेख किया है। (मनुः स्वायंभुवो ब्रवीत), इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति की स्थिति यास्क से पूर्व थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति की रचना तो ब्राह्मण के बाद हुई यह तो निर्विवाद है।

□□

पुरुषार्थ

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत प्रतिपादित पुरुषार्थ की अवधारण जीवन के प्रमुख लक्ष्य की व्याख्या करती है। इसके अन्दर चार पुरुषार्थ माने गये हैं। जो दूसरे शब्दों में मानव जीवन के उन चार लक्ष्य स्तम्भों की ओर संकेत करते हैं जिनकी प्राप्ति मानव जीवन के लिए अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति में 'मोक्ष' प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अतः अर्थ और काम पुरुषार्थ इस लक्ष्य तक पहुँचाने के माध्यम हैं। इन दोनों (अर्थ, काम) का प्रयोग कैसे किया जाय इसका निर्णय करने वाला नियम 'धर्म' है। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति ने मानव जीवन के लिए धर्म, अर्थ काम, मोक्ष को चार पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया। डा० कपाडिया के अनुसार मोक्ष मानव जीवन के चरम लक्ष्य तथा आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। 'अर्थ' सम्पत्ति और उसके उपभोग की ओर संकेत करता है। 'काम' मानव की सहज प्रवृत्ति तथा उसकी संतुष्टि की ओर संकेत करता है। अर्थ और काम सांसारिक क्रिया कलापों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'धर्म' पाशविक तथा दैवी प्रकृति की शृंखला है।

मनुस्मुति में इन चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का बड़ा ही स्पष्ट और विशद वर्णन मिलता है। जब कि अन्य स्मृतियों में से किसी में 'अर्थ' का वर्णन मिलता है तो किसी में 'काम' का प्रतिपादन है। चारों पुरुषार्थों का एक स्थान पर इस प्रकार से स्पष्ट विवेचन अन्य किसी स्मृति में उपलब्ध नहीं है।

(1) धर्म

धर्म मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों की व्याख्या है। दूसरे शब्दों में जिससे मनुष्य की इस लोक में उन्नति हो और परलोक में मुक्ति की उपलब्धि हो। वही धर्म है।[1]

भगवान मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय शौच (पवित्रता), इन्द्रियों का निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग इन दशों के एक सूत्रीकरण और पालन को धर्म कहा है।[2] मनु की इस परिभाषा में समाज कल्याण का एक व्यापक दृष्टि कोण विद्यमान है। उपर्युक्त दशों धर्म के लक्षणों का यदि विधिवत् पालन किया जाय तो मनुष्य के चारित्रिक विकास में पूर्ण सहायता और असफलता मिल सकती है जो धर्म का मुख्य लक्षण और कर्तव्य है। धर्म का अभिप्राय किसी ईश्वरीय मत से न होकर जीवन की उस आचरण संहिता से है जो व्यक्ति के कार्यों को व्यक्ति तथा समाज के

---

1. यतोऽभ्युदयः निःश्रेयससिद्धः स धर्मः ॥
1. धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणाम् ॥

   मनु० 6.92

रूप में नियमित करती है। इसका लक्ष्य व्यक्ति का क्रमबद्ध विकास कर उसे इस योग्य बनाना है जिससे वह मानव जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

पी० वी० काणे के शब्दों में—धर्मशास्त्र के लेखकों का धर्म अभिप्राय केवल किसी जाति विशेष के धार्मिक क्रिया कलापों से ही नहीं है बल्कि सच्चरित्र व्यक्तियों के शुद्धाचरण से है, उनके जीवन सम्बन्धी नियमों से है। जिसके अनुसरण से मनुष्य चरित्रवान बन सकता है और अपने जीवन के चरम लक्ष्य को पाने में समर्थ हो सकता है।[1] शाब्दिक दृष्टि से भी 'धर्म शब्द धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है—बनाये रखना, धारण करना, पुष्ट करना। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म का अभिप्राय उस सिद्धान्त से है जिससे समस्त प्राणियों की रक्षा होती है। वे समस्त नियम धर्म के अंग हैं जो कि प्रत्येक के लिए कल्याणकारी हैं।

वेदों में धर्म का प्रयोग धार्मिक निधियों के लिए भी किया गया है। उपनिषद् के अनुसार धर्म गृहस्थ, तपस्वी, तथा ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से सम्बन्धित है। इसी प्रकार पूर्व मीमांसा के अनुसार धर्म वह वांछनीय वस्तु है जिससे प्रेरणा होती है। वैशेषिक सूत्रों के अनुसार जिससे आनन्द और परमानन्द की प्राप्ति होती है वही धर्म है।

दूसरी ओर हम अपने प्रयोजन के लिए धर्म की परिभाषा इस प्रकार भी कर सकते हैं कि 'यह चारों वर्णों के और आश्रमों के' सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का सम्पूर्ण कर्तव्य है। जहाँ सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुँचने के लिए प्रशिक्षण दिया जाय, वहाँ दूसरा एक आवश्यक लक्ष्य, इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण, इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास भी करना है, जिनमें जन समुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुँच सकें : जो सबकी भलाई और शक्ति के अनुकूल हो क्योंकि ये दशायें प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन, अपनी स्वतंत्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के कल्याण से होता है।

मनु ने धर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि जो द्विज (ब्राह्मण) धर्म की निर्दिष्ट दशा का उचित रूप से पालन करता है वह शीघ्र मोक्ष नामक अंतिम पुरुणार्थ को प्राप्त कर लेता है।[2]

मनुस्मृति के एक उल्लेख के अनुसार भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि धर्मात्मा एवं राग द्वेष से रहित विद्वानों द्वारा सेवित और हृदय से अच्छी तरह जाना गया अनुभूत नियम ही धर्म है।[3]

1. P. V. Kane
2. मनु० 6.93
3. मनु० 2.1

एक स्थल पर भगवान मनु ने धर्म के मूल का संकेत करते हुए कहा है कि सभी वेद और उन वेदों को जानने वाले विद्वान, तथा साधुओं का वेदशास्त्र विहित आचरण एवं शील (जो तेरह प्रकार का है) (क) और अपने मन की प्रसन्नता (जहाँ धर्मशास्त्र में अनेक पक्ष कहे गये हों वहाँ अपने मन को अच्छे लगे) ये सभी धर्म के मूल हैं।[1]

मनु ने धर्म के दो भेद किये हैं एक सामान्य धर्म और दूसरा साक्षात् धर्म। सामान्य धर्म में उन्होंने धृतिक्षमा आदि दश नियमों का पालन करना आवश्यक बतलाया है और साक्षात् धर्म के विषय में उनका कथन है कि वेद, स्मृति, सदाचार और अपने मन की प्रसन्नता (किसी विषय में जहां एकाधिक पक्ष बतलाये गये हैं। वहाँ जिस पक्ष को स्वीकार करने में अपने मन को प्रसन्नता हो। ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।[2]

भगवान मनु का कथन है कि धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको मनुष्य एका-एक प्राप्त कर सके, अतः उसको चाहिए कि जिस प्रकार दीमक वाल्मीकि का संचय करते हैं उसी प्रकार वह भी अपनी दैनिक क्रियाओं के द्वारा जीवों को पीड़ा ने देते हुए धीरे-धीरे धर्म को प्राप्त करने का प्रयास करें।[3] धर्म का सम्बन्ध केवल सांसारिक जीवन से ही नहीं होता है बल्कि वह परलोक में भी एक सहयोगी की भांति सहायता करता है। उस परलोक में जहाँ माता-पिता, पुत्र, स्त्री, जाति आदि के कोई भी व्यक्ति सहायता के लिए नहीं रहते हैं वहाँ केवल धर्म ही मनुष्य का वास्तविक सहयोगी होता है।[4] इस वसुन्धरा पर मनुष्य अकेले पैदा होता है, अकेले ही मृत्यु का शिकार बनता है और अकेले ही अपने पुण्य और पाप जन्य फलों को भोगता है। उसके अपने इस कर्म फल का कोई विभाजन नहीं कर सकता है। घर परिवार जाति और देश वन्धु-वान्धव इस मानव के शरीर को मृत्यु के पश्चात् लकड़ी और ढेले के समान भूमि पर परित्याग कर अपने-अपने घर वापस लौट जाते हैं, कोई साथ नहीं देता है परन्तु केवल मनुष्य के द्वारा अर्जित 'धर्म' ही उसका साथ देता है और अन्त तक मनुष्य का साथ देता रहता।[5] इसलिए मनुष्य को चाहिए कि परलोक में अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में सहायता के लिए धीरे-धीरे दैनिक जीवन में धर्म का आचरण करें क्योंकि मानव जीवन की सफलता का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।[6] मनु के साथ ही अन्य स्मृतिकारों ने भी धर्म को अर्थ और काम पुरुषार्थ का प्रवर्तक माना है। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ यदि धर्म के अनुकूल न हों तो उनका

1. मनु॰ 2.6
2. मनु॰ 4.12
3. मनु॰ 4.238
4. मनु॰ ɒ.239
5. मनु॰ 4.240,241
6. मनु॰ 4.242

परित्याग कर देना चाहिए। अर्थात् धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन कल्याणकारी होता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म पुरुषार्थ त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ काम) में महत्वपूर्ण स्थान रखता है और मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने में पूर्ण सहायक है। यह एक साधन है जो जीवन की विविध स्थितियों में, व्यक्ति द्वारा उसके नैतिक कर्तव्यों का पालन कराता है। व्यक्ति और समाज के जीवन का क्षेत्र जिस प्रकार व्यापक है उसी प्रकार व्यक्ति और समाज की क्रिया कलाप का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत है। अतः धर्म व्यक्ति तथा समाज के उत्तरदायित्व का निर्धारण करता है। एक ऐसी जीवन पद्धति को प्रस्तुत करता है जो व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी होती है। अतः धर्म का जिस समाज में वास्तविक अनुकरण होता है वहाँ शान्ति और समृद्धि होती है।

अर्थ

भारतीय दर्शन और संस्कृति के अन्तर्गत अर्थ को दूसरी श्रेणी का पुरुषार्थ माना गया है। यद्यपि काटिल्य तथा कुछ स्मृतिकारों का इसके विषय में मतभेद है फिर भी अधिकांश लोग अर्थ को धर्म के बाद द्वितीय श्रेणी का पुरुषार्थ मानते हैं। शास्त्रकारों के मतानुसार जीवन का लक्ष्य केवल नैतिक कर्तव्यों के परिपालन तक ही सीमित नहीं हैं अपितु जीवन का भौतिकपक्ष भी महत्वपूर्ण है। धर्म के पालन के लिये आर्थिक अर्थात् भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। मनुस्मृति में धर्म के बाद अर्थ पुरुषार्थ का उल्लेख करते हुए भगवान मनु ने कहा है कि धर्म अर्थ काम में तीनों मानव जीवन के लिए कल्याणकारी है अतः धर्म की पुष्टि के उपारान्त अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करना चाहिए।[2]

एक स्थल पर राजा का संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि माध्याह में या आधीरात को मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से हीन होकर राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों के साथ बैठकर धर्म अर्थ और काम का विधिवत चिंतन करे।[3]

इसी बात को एक समाजशास्त्री विद्वान जिभर ने कहा है कि 'अर्थ के अन्तर्गत वे सभी वस्तुएँ आती हैं जीवन यापन, समृद्धि, कर्तव्य पालन तथा धार्मिक दायित्वों के निर्वाह के लिए आवश्यक है।

यह सभी शास्त्र और स्मृतिकार स्वीकार करते हैं कि अर्थ के अभाव में मनुष्य अपने नैतिक कर्तव्यों का पालन भलीभाँति नहीं कर सकता है। अतः अर्थ हीनता मावव

---

1. मनु० 4.176
2. धर्मार्धावुच्यते श्रेयः कामार्धा धर्म एव च।
   अर्थ एवेह वा श्रेयरित्रवर्ग इति तु स्थितिः॥
   (मनु० 2.224)
3. मध्यने र्धरात्रे या विश्रान्तो विगतवलभः।
   चिन्तयेद्धर्मकामाथांन्साथ तैरेक एव वा॥
   (मनु० 7.151)

जीवन का अभिशाप है। अर्थ के माध्यम से ही मनुष्य विधिपूर्वक अनेक धार्मिक क्रियाओं एवं यज्ञादिकों का अनुष्ठान करता है। अर्थ के अभाव में धार्मिक कार्यों का सम्पादन असंभव है अतः हम कह सकते हैं कि एक अर्थ में अर्थ पुरुषार्थ धर्म का परिपालक है।

काम

पुरुषार्थों की श्रेणी में काम मानव जीवन का तृतीय महत्वपूर्ण लक्ष्य है। काम शब्द अनेक दृष्टिकोणों से प्रयुक्त किया जाता है। संकुचित दृष्टिकोण में आबद्ध होने पर काम शब्द का अर्थ इन्द्रिय सुख है। इसके विपरीत व्यापक दृष्टि कोण में काम शब्द का अर्थ मानव की समस्त सहज प्रवृत्तियों से है। जिसका तुष्टीकरण जीवन की सर्वांगीण परिस्थितियों के लिए अत्यावश्यक है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काम के अन्तर्गत मनुष्य की प्राणिशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को सम्मिलित किया जा सकता है। इसके माध्यम से मनुष्य आनन्द प्राप्ति की ओर उन्मुख होता है। यह आनन्द दो प्रकार का होता है (1) शारीरिक (2) मानसिक। शारीरिक स्तर पर इसका अभिप्राय उन सभी सुखों से है जिनका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर और इन्द्रियों से है। मानसिक स्तर पर इसका अभिप्राय मानसिक सुखों से है। यह शारीरिक सुख की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यह मानव जीवन के कलात्मक पक्ष द्वारा अभिव्यक्त होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काम की अवधारणा एक ओर मानव के स्वाभाविक स्वभाव का स्पष्टीकरण करती है और दूसरी ओर मानव जीवन के सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक पक्ष का समर्थन करती है। काम की सहज प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य को इन्द्रिय सुख की उपलब्धि होती है। इस सहज प्रवृत्ति का दमन मनुष्य के लिए दुःखद है। इसी कारण हमारे शास्त्रकारों ने "काम" को विवाह के विविध उद्देश्यों में से प्रमुख माना है। शास्त्रकारों के अनुसार विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा और रति की प्राप्ति है।

काम का द्वितीय पक्ष मनुष्य के सौन्दर्यात्मक जीवन की अभिव्यक्ति करता है। मनुष्य स्वभावतः एक सौन्दर्यप्रिय प्राणी है। वह सदा से सौन्दर्य के लिये तृषित रहा है। सौन्दर्य दर्शन से ही उसकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि वह रचनात्मक कला द्वारा भी अपनी सौन्दर्य प्रियता को साकार करता है। फलस्वरूप लय, ध्वनि, चित्र आदि का उदय होता है। दूसरे शब्दों में हम इसको मनुष्य का सृजनात्मक एवं सांस्कृतिक पक्ष कह सकते हैं। सौन्दर्य भावना जीवन के विकास की गति को प्रशस्त करती है।

सामाजिक जीवन के संगठन में काम का एक महत्वपूर्ण स्थान है। संकुचित अर्थ में काम यौन सुख से सम्बन्धित है। इसी के फलस्वरूप सन्तानोत्पत्ति होती है और सामाजिक जीवन की निरन्तरता बनी रहती है एवं सांस्कृतिक प्रतिमान भी सुरक्षित रहता है। व्यापक अर्थ में भी काम का एक महत्वपूर्ण स्थान है। काम पुरुषार्थ एक

प्रेरणादायक कहा जा सकता है। काम का अर्थ इच्छा से भी है। मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य इच्छा की प्रेरणा से संचालित होते हैं। इनकी सन्तुष्टि द्वारा ही मनुष्य मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होता है।

इसी काम पुरुषार्थ की दृष्टि को ध्यान में रखकर कुछ शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम को महत्वपूर्ण स्थान दिया जिसमें "काम" के उपभोग और उपशमन का अवसर मिलता है और मोक्ष की ओर प्रवृत्ति का अवसर प्राप्त होता है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि रूप गुण से सम्पन्न धनवान व्यक्ति धर्म की पृष्ठभूमि पर काम का उपभोग करते हुए 100 वर्ष तक जीते हैं।[1] एक अन्य स्थल पर मनु ने अपनी स्त्री के साथ उसके ऋतुमती होने के पश्चात् प्रेम पूर्वक सम्भोग को आवश्यक बतलाया है। इससे उत्तम सन्तान की उत्पत्ति होती है जो मनुष्य को पितृऋण से मुक्ति में सहायक सिद्ध होती है।[2] मनुस्मृति में यहाँ तक स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि केवल गृहस्थ ही नहीं अपितु वानप्रस्थ भी यदि प्रथम चार रात्रियों (ऋतुकाल की प्रारम्भ की चार) और 11 तथा 13वीं तथा अन्य अमावस्या, पूर्णिमा आदि 8 पर्वों को इस प्रकार 14 दिनों और रात्रियों को छोड़ शेष दो दिनों में सम्भोग कर सकता है। उससे उसका ब्रह्मचर्य खंडित नहीं माना जाता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु ने भी काम पुरुषार्थ का स्पष्ट उल्लेख एवं महत्व निर्देश किया है।

मोक्ष

भारतीय संस्कृति में मोक्ष पुरुषार्थ का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह अन्तिम पुरुषार्थ है और यही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इसी की उपलब्धि के लिए शास्त्रकारों ने धर्म, अर्थ, काम का प्रविधान किया है। मोक्ष की अवधारणा इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि मानव जीवन की शाश्वत् प्रकृति आध्यात्मिक है। यह स्पष्ट है कि जीवन के भौतिक सुख यद्यपि प्रयोजन पूर्ण हैं किन्तु ये चिरस्थायी नहीं हैं। अतः भौतिक सुखों की प्राप्ति में तल्लीन रहने से मनुष्य को स्थायी सुख नहीं मिल सकता है। स्थायी सुख वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक सुखों के साथ आध्यात्मिक सुखों को उपलब्ध करने का सतत् प्रयास करे। यह स्थायी सुख तभी सम्भव हो सकता है जबकि आत्मा परमात्मा में तल्लीन हो जाय। आवागमन के चक्र से मुक्ति मिलना ही मोक्ष है। मोक्ष शब्द भिन्न-भिन्न रूपों में भारतीय दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। सांख्य दर्शन के अनुसार जब मनुष्य कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है और उसका सम्बन्ध पुरुष के साथ नहीं होता है तो इसी स्थिति को सांख्य शास्त्र में मोक्ष की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

निर्वाण की अवधारणा के अनुसार जब मनुष्य ब्रह्म ज्ञानी हो जाता है तो वह

---

1. मनु० 3.40
2. मनु० 3.45
3. मनु० 3.50

स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है। शिव गीता के एक उद्धरण के अनुसार मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको एक स्थान पर रखा जाय अथवा जिसकी प्राप्ति के लिये किसी गाँव या प्रदेश में जाना पड़े। वस्तुतः अज्ञान ग्रंथि के नाश होने पर पूर्ण ज्ञानोपलब्धि को ही मोक्ष कहते हैं।[1]

इसी प्रकार गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है जिन्हें आत्म ज्ञान प्राप्त हो गया है उन्हें मोक्ष अपने आप प्राप्त हो जाता है।[2] इसी बात को वेदान्त में भी कहा गया है कि आत्मा जब अपने मूल स्वरूप को पहचान लेती है तो उसको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। वेदान्त की अद्वैत अवधारणा के अनुसार मुक्ति शाश्वत् सत्य की अनुभूति है।

हमारे तपःपूत मनीषियों ने मोक्षोपलब्धि के विविध मार्गों का उल्लेख किया है जिसमें ज्ञानमार्ग और भक्ति मार्ग प्रमुख हैं। इन दोनों मार्गों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

भगवान मनु ने भी मनुस्मृति में मोक्ष साधन के छः कर्मों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा ये मोक्ष साधक के परम धर्म है[3] इसी प्रसंग में ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता में वर्णित ब्रह्मज्ञान सर्व श्रेष्ठ है और वही मोक्ष का साधन है।[4] इसी प्रसंग में भगवान मनु ने प्रवृत्त और निवृत्त कर्मो की ओर संकेत करते हुए कहा है कि प्रवृत्त कर्म का सेवन करने से मनुष्य देवों की गरिमा से विभूषित होता है अर्थात् स्वर्गादिक सुखोपलब्धि करता है परन्तु निवृत्त कर्मों के अनुगमन और परिपालन से वह मोक्ष की प्राप्ति करता है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रवृत्त कर्मों की ओर से निवृत्त कर्मों की ओर उन्मुख होना मानव का धर्म है और इसी के द्वारा उसको मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।[5]

भगवान मनु ने मोक्ष पुरुषार्थ की विवेचना करते हुए एक स्थल पर कहा है कि सम्पूर्ण जीवों में आत्मा को एवं आत्मा में सम्पूर्ण जीवों को देखता हुआ आत्मयाज्ञी (ब्रह्मार्पण न्याय से ज्योतिष्टोमादि करने वाला) ब्रह्मत्व अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।[6]

मोक्ष नदियों के लिये सागर की तरह मनुष्य के लिये अन्तिम शरण स्थान है जहाँ पहुँच कर वह जीवन के आवागमन की पीड़ा से मुक्त हो जाता है। जैसे सागर

---

1. मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामन्तरमेव वा।
   अज्ञान हृदय ग्रंथि नाशो मोक्ष इति स्मृतः॥
2. अत्रितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्॥
3. मनु० 12 83
4. मनु० 12.85
5. मनु० 12.90
6. मनु० 12.91

तक पहुँचने के लिये नदियों के अनेक मार्ग होते हैं उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के अनेक मार्ग शास्त्रों में निर्दिष्ट किये गये हैं। मनुस्मृति में तप और विद्या को भी मोक्ष का साधन बतलाया गया हैं। कहा गया है कि तप (ब्रह्मचर्य, गृहस्थादिधर्म का पालन) और विद्या (आत्मज्ञान) ये दोनों मोक्ष के साधन हैं। ब्राह्मण तप से पापों को नष्ट करके विद्या के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि हिन्दू दर्शन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदर्श जीवन स्थिति के प्रतीक हैं। जीवन की इस वैज्ञानिक व्यवस्था के अन्तर्गत मानव जीवन का विकास सम्भव है।

□ □

1. मनु॰ 12.104

आश्रम व्यवस्था

आश्रम शब्द संस्कृत की 'श्रम' धातु से बना है। जिसका अर्थ 'परिश्रम एवं कार्य तथा शरीर को उद्देश्य के साथ गतिशील रखना होता है। अतः आश्रम शब्द का अर्थ विद्वानों ने दो प्रकार से किया है। (1) वह स्थान जहाँ कार्य किया जाता है (2) वह कार्य जो अपेक्षित है उसको करना।

एक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान ने आश्रम शब्द का दो अर्थ बतलाया है। (1) वह स्थान जहाँ श्रम अथवा प्रयत्न किया जाय (2) श्रम अथवा प्रयत्न करना।

आश्रम शब्द का शाब्दिक अर्थ विश्राम-स्थान होता है। हिन्दू संस्कृति के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्षोपलब्धि है। मानव जीवन की विशाल यात्रा में आश्रम विश्राम स्थल हैं।

महाभारत के शान्ति पर्व में वेदव्यास जी ने आश्रम व्यवस्था को चार दण्डों वाली एक सीढ़ी कहा है। जो ब्रह्म की ओर ले जाने वाली है।[1]

हिन्दू विचार धारा के अनुसार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अध्ययन और आत्मानुशासन का है। इस अध्ययन काल में मनुष्य को चार अवस्थाओं में प्रवेश करना पड़ता है जो आश्रम कहलाते हैं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आश्रम मानव जीवन की आध्यात्मिक यात्रा में विश्राम स्थल है। मनुष्य अपने दैनिक जीवन में यथाक्रम निर्दिष्ट नियमों का पालन करता हुआ अपने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये आगे बढ़ता जाता है। प्राचीन भारत की आश्रम व्यवस्था उस काल की वैज्ञानिकता और आध्यात्मिक चिंतन की प्रगतिशीलता का पूर्ण संकेत करती है। हमारे तपः पूत मनीषियों ने मानव जीवन को कुछ निश्चित जीवन सूत्रों के अन्दर प्रतिष्ठित कर लिया था। अतः उन जीवन सूत्रों के पालन करने से मनुष्य शीघ्र ही अपने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने जीवन को चार भागों में विभक्त कर लिया था। इसी चतुः सूत्री विभाजन के अनुकूल चार आश्रम, चार पुरुषार्थ एवं चार वर्णों का संयोजन किया।

आश्रम व्यवस्था का स्वरूप इतना वैज्ञानिक और व्यावहारिक है कि जिससे सामाजिक सुख समृद्धि स्वाभाविक है। इन आश्रमों में प्रत्येक मनुष्य अपनी अवस्था और कर्मों के अनुकूल यथा क्रम चारों आश्रमों में पदार्पण करता है।

---

1. चतुष्पदी हि निःश्रेणी वमण्येदा प्रतिष्ठिताः।
   एतामारुह्य निः श्रेणी ब्रह्म लोके महीयते ॥ (महाभारत शान्तिपर्व)
2. P. N. Prabha (Hindu Social organization P. 78).

आश्रम व्यक्ति का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से है। इस व्यवस्था के अनुकूल मनुष्य का आध्यात्मिक लक्ष्य निर्धारित किया गया है। साथ ही इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार मनुष्य यम नियम का पालन करने से जीवन के परम लक्ष्य तक सुविधापूर्वक पहुँच सकता है।

इन चारों आश्रमों के विषय में तीन विभिन्न पक्ष हैं। (1) समुच्चय (2) विकल्प (3) बाध।

समुच्चयवादियों का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक क्रम से आश्रमों का पालन करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति किसी आश्रम का परित्याग नहीं कर सकता है। साथ ही सन्यासी होने के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में पुनः नहीं आ सकता है। इस सिद्धान्त के प्रथम अनुयायी मनु हैं।

विकल्पवादियों के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद मनुष्य को यह विकल्प प्राप्त है कि वह अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद ही तुरन्त यदि वह चाहे तो परिव्राजक बन सकता है। बाघ मत के समर्थक गौतम एवं बौधायन हैं। इनका कथन है कि आश्रम वास्तव में एक ही है वह है गृहस्थाश्रम। मनु के टीकाकार सर्वज्ञ नारायण इत्यादि कतिपय विद्वानों ने उन तीनों सिद्धान्तों का समाधान इस प्रकार किया है। यह सिद्धान्त कि मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद सन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो सकता है केवल उन्हीं के लिये प्रयुक्त होता है जिन्होंने अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के आधार पर अपनी कामनाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया है। तथा जिन्होंने अपनी इन्द्रियों, मन, वचन, कर्म पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया है।

मनु का यह सिद्धान्त कि कोई भी व्यक्ति अपने तीन ऋणों (देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण) को चुकाये बिना सन्यासाश्रम में नहीं प्रविष्ट हो सकता है केवल उन्हीं के लिये था जिन्होंने अपनी इच्छाओं पर पूर्ण विजय न पायी हो।

गौतम का यह सिद्धान्त कि वास्तव में गृहस्थ आश्रम ही एक आश्रम उन व्यक्तियों के लिये है जिनकी सांसारिक सुखों के प्रति पूर्ण प्रवृत्ति है। साथ ही महत्व की दृष्टि से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आश्रम व्यवस्था एक ही व्यक्ति के विभिन्न कार्यों में पूर्वापर निश्चित करके उसे इस बात का ज्ञान कराती है कि वह अपने जीवन को एक ऐसे क्रम में आबद्ध कर दे कि जिससे उसके अनेक सामाजिक दायित्वों की पूर्ति आयु के विभिन्न स्तरों में हो सके। व्यक्ति की आयु को चार भागों में बाँट कर उसको इस बात का अवसर दिया जाता था कि वह अपने तीन ऋणों को यथावत् पूर्ण कर सके। चारों आश्रमों का स्थूल विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है। पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम आते हैं। उत्तरार्ध में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम आते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम

मनोविज्ञान के क्षेत्र में ज्ञान, इच्छा एवं कृति ये तीन मन के गुण स्वीकार किये गये हैं। इन्हीं तीनों गुणों की साधना आश्रम व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है। ज्ञान की पुष्टि के लिये ब्रह्मचर्य, इच्छा की पुष्टि के लिये गृहस्थ एवं कृति की पुष्टि के लिये बानप्रस्थ और सन्यास आश्रम की कल्पना की गयी है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण आश्रम ब्रह्मचर्य है। मनु के अनुसार वर्णों में द्विज का निर्णय संस्कार से होता है।[1] जब मनुष्य का संस्कार सम्पन्न हो जाता है एवं शिक्षा दीक्षा भी निष्पन्न हो जाती है तभी मनुष्य द्विज की गरिमा से विभूषित होता है। अन्यथा संस्कार और उचित शिक्षा-दीक्षा के अभाव में द्विज कुल में भी उत्पन्न व्यक्ति पतित समझा जाता है। उसको यज्ञादि करने का अधिकार नहीं होता है। इसी शिक्षा-दीक्षा का ही दूसरा संस्कृत स्वरूप ही ब्रह्मचर्य आश्रम है। ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों के समन्वय से बना है। ब्रह्म + चर्य। ब्रह्म का अर्थ है महान तथा चर्य का अर्थ है 'विचरण करना', ऐसे मार्ग पर चलना जिससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य महान बन सके यह ही यथार्थ रूप में ब्रह्म-चर्य का अर्थ है। कुछ विद्वान ब्रह्मचर्य का अर्थ लैंगिक संयम समझते हैं, परन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का एक अंश मात्र है। शुद्ध अर्थ में ब्रह्मचर्य क्षुद्रता की ओर से महानता की ओर अग्रसर होने का प्रथम एवं महत्वपूर्ण काल है, महान होने की उन्नत साधना है।

ब्रह्मचारी का अर्थ है शारीरिक मानसिक एवं आत्मक दृष्टि से ऐसे मार्ग का अवलम्बन करना जिससे शरीर स्वस्थ हो, उन्नत हो, मन बुद्धि तथा विद्या से भरपूर हो, आत्मा पवित्र हो। इस प्रकार से मनुष्य क्षुद्र से महान हो सकता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर मनु ने ब्रह्मचारी की साधना के लिये तीन मार्गों की कल्पना की है।

प्रथम मार्ग शारीरिक ब्रह्मचर्य का है। इसका अर्थ है लैंगिक संयम (Sexual Control) और इसको वे वीर्य संरक्षण कहते हैं। इसी लिए जो कार्य वीर्य रक्षा के बाधक होते हैं उनका मनु ने स्पष्ट निषेध किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु ब्रह्मचर्य पालन में वीर्यरक्षा पर विशेष बल देते हैं। उनका यहाँ तक कथन है कि 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्। अर्थात् वीर्य का एक भी बिन्दु यदि नष्ट होता है तो वह मृत्यु के समान दुःखद होता है और एक-एक बिन्दु वीर्य संरक्षण से मनुष्य का जीवन सुखद बन जाता है। दुःख का विषय है कि वर्तमान शिक्षा संस्थाओं में वीर्य संरक्षण पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। जिसके परिणामस्वरूप ब्रह्मचर्य जीवन की गरिमा को आघात लग रहा है।

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना का द्वितीय मार्ग मानसिक विकास का है। मानसिक विकास के प्रसंग में तैत्तिरीयोपनिषद में लिखा गया है कि 'ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च' सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च, तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च, दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च, अर्थात् मानसिक विकास के लिये विद्यार्थी को शुद्ध आचरण वाला होना चाहिए। साथ ही आचरण के विषय में स्वयं स्वाध्याय एवं चिंतन करना चाहिए तथा दूसरों को

---

1. 'संस्कारात् द्विज उच्यते' मनु०

भी प्रेरणा देनी चाहिए। सत्य का प्रयोग करना चाहिए, सत्य के विषय में स्वयं अनुसन्धान करना चाहिए और दूसरों को सत्यानुगामी होने की प्रेरणा देनी चाहिए। यही प्रक्रिया, तप, शम एवं दम के सम्बन्ध में अपनानी चाहिए। मन के साथ सम्बन्धित अन्य मानसिक गुणों का क्रियात्मक अनुभव तथा उनके सम्बन्ध में अनुसन्धान एवं स्वाध्याय करना ही मानसिक विकास का प्रशस्त मार्ग है।

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना का तृतीय मार्ग आध्यात्मिक विकास का है। आध्यात्मिक विकास के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि—

यमान् सेवेत् सततं न नियमान् केवलान् बुधः
यमान् पतत्यकुर्वाणों नियमान् केवलान् भजन्

अर्थात् ब्रह्मचारी को नियमों का तो पालन करना चाहिए परन्तु केवल नियमों का ही पालन नहीं करना चाहिए, साथ में नियमों के पालन को मुख्य स्थान देना चाहिए।[1] इस प्रकार मानसिक विकास के लिये नियमों का और आत्मिक विकास के लिये यमों का विधिवत् पालन करना चाहिए। उपर्युक्त तीन मार्ग ब्रह्मचर्य जीवन के विशाल प्रासाद के आधार स्तम्भ हैं। इनका पालन ब्रह्मचर्य जीवन में परमावश्यक होता है।

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) उपनयन संस्कार के बाद ही इस आश्रम में प्रवेश करते हैं। ब्रह्मचारी गुरु के समीप जाता है और गुरु की आज्ञा से गुरु आश्रम में रहता है। यह स्थान गुरुकुल कहा जाता है। यही गुरुकुल ब्रह्मचारी के ज्ञानोपार्जन का मुख्य स्थान है। इस आश्रम में सर्वत्र समानता का व्यवहार होता है। धनी और गरीब, राजपुत्र और साधारण द्विज बालक समान स्थिति में रहते हैं। वे समान रूप से आश्रम के समस्त कार्यों को स्वयं अपने हाथों से करते हुए आचार्य के उपदेशों और आदेशों का पालन करते हैं। उपनयन संस्कार के बाद आचार्य ही ब्रह्मचारी का पिता और सावित्री माता समझी जाती है।

जीवात्मा के ऊपर जन्म लेते ही तीन ऋण आ जाते हैं। इनमें से ऋषि ऋण से मनुष्य इसी ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर मुक्त होता है। ऋषि ऋण से मुक्त होने का तात्पर्य है ज्ञान प्राप्त करना। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था को देखकर यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन करने से कोई भी द्विज अज्ञानी उच्छृंखल तथा अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों के प्रति निरपेक्ष नहीं रह सकता है।

स्मृतियों में ब्रह्मचारियों के विभाजन दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी कहलाता है, द्वितीय 'उप कुर्वाण'। नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन पर्यन्त गुरु के आश्रम में रहकर ज्ञान प्राप्त करता है तथा मोक्ष प्राप्ति की साधना करता है। वह आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता है।[2] उपकुर्वाण की कोटि में आने वाला ब्रह्मचारी भी

1. यम और नियम में भेद—
(अ) 'शौच सन्तोष तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः
(ब) तत्र अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रहाः यमाः।'

2. मनु० 2·242, 243, 244।

गुरु के समीप रहकर विद्याध्ययन करता है परन्तु यह कुछ ही समय तक गुरु के समीप में रहता है। विद्याध्ययन के बाद वह गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

एक प्रसंग में मनु ने कहा है कि ब्रह्मचारी अध्ययन काल में गुरु के ऊपर आश्रित रहा करता है और अध्ययन के पूर्ण हो जाने पर ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा प्राप्त कर किसी धर्मज्ञ धनिक से धन की याचना कर गुरु को श्रद्धा पूर्वक समर्पित करता है। यदि वह ऐसा न कर सके तो अपनी श्रद्धा की पुष्पांजलि समर्पित करता हुआ चरण स्पर्श कर आज्ञा प्राप्त करे। यथा दक्षिणा के रूप में ब्रह्मचारी गुरु को भूमि, सुवर्ण, गो, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और कपड़ों को सादर समर्पित कर प्रसन्न करे और गुरु को प्रसन्न कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे।[1] मनुस्मृति के टीकाकार सर्वज्ञ नारायण का मत है कि शाक का जो संकेत यहाँ किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि यदि वह अन्य वस्तुओं को देने में असमर्थ है तो भी वह शाक ही देकर गुरु की प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। क्योंकि गुरु को कोई लोलुपता नहीं हुआ करती है। वह तो श्रद्धा और प्रेम चाहता है। रघुवंश के 5वें सर्ग में वर्णित वरतन्तु और कौत्स की कथा इसी प्रसंग की ओर संकेत करती है।

मनु ने यहाँ तक कहा है कि गुरु की मृत्यु के पश्चात् भी ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह गुणयुक्त गुरुपुत्र में और गुरुपत्नी में तथा गुरु के सपिण्डों में गुरु के समान ही व्यवहार करे और यदि उपर्युक्त कोई भी न हो तो वह आचार्य की अग्नि समाधि के समीप स्थान, आसन विहार से युक्त ब्रह्मचारी अग्नि शुश्रूषा (अग्नि होम) का व्रत निर्वाह करे। यदि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है तो इसी क्रम से जीवन पर्यन्त गुरु के आश्रम में रहता हुआ जीवन समाप्त कर दे तो वह जीवन मरण के बन्धन से मुक्ति पा जाता है।[2]

इस प्रकार ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अखंडित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनों वेदों को, यदि तीनों न हो सकें तो दो ही अथवा एक ही वेद का विधिवत अध्ययन करने के बाद अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त कर प्रसन्नता पूर्वक गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे।[3] इस प्रकार ब्रह्मचर्य जीवन की शिक्षा व्यक्ति को भावी जीवन के लिये तैयार करती है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी एक पूर्ण व्यवस्थित जीवन व्यतीत करता है। ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण के ब्रह्मचारी दुपट्टे के स्थान पर यथा क्रम कृष्णमृग, तरुमृग और बकरे के चमड़े को, धोती और कोपीन के स्थान पर यथा क्रम सन, क्षौम, और भेड़ के बाल के बने कपड़े को धारण करते हैं।[4] त्रिगुणित बराबर और चिकनी मूँज की मेखला को ब्राह्मण ब्रह्मचारी, मौर्वी की मेखला को क्षत्रिय ब्रह्मचारी और सन की

---

1. मनु॰ 2·245, 246
2. मनु॰ 2.247, 248, 249
3. मनु॰ 2.247, 248, 249
4. मनु॰ 3.2

रस्सी की मेखला को वैश्य ब्रह्मचारी धारण करता है। जीवन को संयमित रखने में इस प्रकार के वस्त्राभूषणों का बड़ा ही वैज्ञानिक महत्व है।[1]

इसी प्रकार ब्रह्मचारीगण अपने व्यवस्थित जीवन के यथा क्रम नियम का पालन करते हुए ज्ञानार्जन करते हैं। इस स्थल पर मनु ने ब्रह्मचर्य आश्रम में निर्दिष्ट भिक्षा वृत्ति की कलात्मकता का परिचय देते हुए कहा है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी जब भिक्षा माँगने जाता है तो सभी व्यक्तियों से वह भिक्षा नहीं माँगता है बल्कि वह सर्व प्रथम माता से, बहन से, मांसी से या अन्य उन लोगों से माँगता है जिनसे निषेध द्वारा अपमान की आशंका नहीं होती है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी के लिए भी है। इस प्रकार ब्रह्मचारियों की भिक्षावृत्ति कुछ घृणित और अपमान जनक नहीं है। इसके साथ ही साथ उसके माँगने की प्रणाली भी कितनी भावपूर्ण और मनोमुग्धकारी है। ब्राह्मण कुमार भवत् शब्द का पहले उच्चारण करता है (भवति भिक्षा देहि)। क्षत्रिय ब्रह्मचारी भवत् शब्द को मध्य में प्रयोग करता है (भिक्षा भवति देहि)। और वैश्य अन्त में भवत् शब्द का प्रयोग करता है (भिक्षादेहि भवति)। इस दृष्टि कोण में कितनी मनोहरता और मनोवैज्ञानिकता से कार्य लिया गया है।[2] इस प्रकार से भवति शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के क्रम का संकेत करता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी को एक तपस्वी की भाँति रहना पड़ता है। उसको सदैव मादक, क्षार, शुक्रवर्धक वस्तुओं से वंचित रखा जाता है। मधु, मांस, सुगन्धित पदार्थ, फूलों की माला, रस, स्त्री और अन्य इसी प्रकार की उन्मादक वस्तुओं के सेवन से दूर रहने का विधान किया गया है। साथ ही साथ ब्रह्मचारी शिर और पैर तक तेल का मालिश या उबटन, आँखों में अंजन, जूता और छाते को नहीं धारण कर सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं नाचने गाने की प्रवृत्तियों पर भी पूर्ण नियंत्रण रखना पड़ता है।[3]

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति ने ब्रह्मचारियों के जीवन संयम का कितना सुन्दर दृश्यपट प्रस्तुत किया है वह अवर्णनीय है। आज के वर्तमान विकसित जीवन में विद्यार्थियों के लिए उसकी महती आवश्यकता है। मनु ने कहा है कि ब्रह्मचारी को सदैव द्यूत से, निरर्थक प्रलाप से, परिवाद से, असत्य से, अनुरागवान होकर कामिनी अवलोकन से एवं आलिङ्गन और चुम्बन से तथा दूसरों को व्यथित करने वाली क्रियाओं से सदैव दूर रहना चाहिए। ब्रह्मचारी को सर्वदा अकेले शयन करना चाहिए। इच्छा पूर्वक वीर्यपात नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार निन्द्य कार्यों के करने से ब्रह्मचारी की मेधा नष्ट हो जाती है और वह व्रतभ्रष्ट समझा जाता है।[4]

---

1. मनु० 2.41
2. मनु० 2.42
3. मनु० 2.50,49
4. मनु० 2.177, 178

ब्रह्मचारी के जीवन में गुरु सेवा का अनुपम महत्व है। ब्रह्मचारी को प्रतिदिन अपने गुरु की दैनिक पूजा के लिए फूल और घड़े के जल, तथा गोबर आदि लाकर यथा समय से रख देना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी को समय के अनुकूल कार्य करने का अभ्यास और गुरु की आज्ञा का पालन करना आवश्यक और मान्य है।[1]

ब्रह्मचारी के लिए कुछ वर्जित कार्य

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास का आधार भूत प्रथम भाग ब्रह्मचर्य आश्रम ही है। इसी जीवन में अन्य आश्रमों के संचालन का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः इस आश्रम के साधक (ब्रह्मचारी) को बड़ा ही संयमित और ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसलिए उसके आन्तरिक चित्त की प्रवृत्तियों को नियंत्रित रखने के लिए बहुत से कार्य ब्रह्मचारी को वर्जित हैं। वे कार्य निम्नलिखित हैं।

(1) ब्रह्मचारी को गुरु के सामने चंचलता नहीं करनी चाहिए एवं अपने आसन को गुरु के आसन की अपेक्षा नीचा रखना चाहिए।[2]

(2) ब्रह्मचारी को गुरु का नाम नहीं लेना चाहिए उसको केवल आदर सूचक शब्द जैसे आचार्य, उपाध्याय, इत्यादि ही लेना चाहिए।[3]

(3) गुरु की निन्दा अपने कानों से कभी नहीं सुनना चाहिए। यदि कहीं निन्दा हो रही है तो वहाँ अपना कान बन्द कर लेना चाहिए अथवा वहाँ से चला जाना चाहिए।[4]

(4) ब्रह्मचारी को कभी भी गुरुपुत्र के शरीर में तेल मालिश या उबटन आदि नहीं लगाना चाहिए। न तो कभी जूठा भोजन करना चाहिए। इसी प्रकार गुरु की स्त्रियों को भी तेल मालिश या आलेप लेपन, उबटन, बालों में पुष्प गुन्थन आदि कार्य नहीं करना चाहिए।[5]

(5) बीस वर्ष की अवस्था वाले ब्रह्मचारी को कभी भी युवती गुरु पत्नी का चरण स्पर्श करके प्रणाम नहीं करना चाहिए।[6]

इस प्रकार मनु ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि ब्रह्मचारी उपर्युक्त वर्जित कृत्यों का परित्याग कर दे और श्रद्धापूर्वक गुरु के चरणों में रहता हुआ विद्योपार्जन करे तो अवश्य ही उसका मार्ग प्रशस्त होगा और जीवन की आधार भूमि सुगठित होगी।

गृहस्थाश्रम

यद्यपि क्रम की दृष्टि से गृहस्थाश्रम द्वितीयाश्रम के रूप में आता है परन्तु महत्व की दृष्टि से अधिकांश विद्वानों ने इसे सर्वप्रथम माना है। आपस्तम्ब ने इसको

1. मनु० 2.179, 180
2. मनु० 2.182
3. मनु० 2.198
4. मनु० 2.199
5. मनु० 2.200
6. मनु० 6.57

गणना करते हुए भी प्रथम स्थान में रखा है । यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण समाज इसी आश्रम की धुरी पर स्थित है तो कोई अत्युक्ति न होगी । सृष्टि के क्रम को अक्षुण्य बनाये रखने के अतिरिक्त, यह आश्रम तीन आश्रमों का पालक है । ब्रह्मचर्य आश्रम इसी गृहस्थाश्रमवासियों से भिक्षा ग्रहण करता है तथा वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के अन्तर्गत आने वाले समाज की पूर्ति करना भी इसी आश्रम का प्रमुख कर्तव्य है ।[1]

गृहस्थाश्रम का महत्व बतलाते हुए मनु ने कहा है कि सभी आश्रमों में गृहस्था-श्रम ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसी के द्वारा तीनों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, सन्यास) आश्रमों का परिपालन होता है । जिस प्रकार से सभी नदी और नद की स्थिति अथाह सागर में होती है उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम के द्वारा संचालित होते हैं ।[2] इस प्रकार यदि देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थाश्रम ही समाज का वह आवश्यक अंग है जो अन्य अंगों की सम्पूर्ति करने में समर्थ है ।

सामर्थ्य की दृष्टि से गृहस्थ ब्राह्मणों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है । ये हैं—कुम्भीधान्यक, कुसूलधान्यक, श्र्यहिन्क, तथा अश्वस्तनिक ।[3] कुसूलधान्यक उसे कहते हैं जिसके पास परिवार एवं आश्रितों का भरण-पोषण करने के लिये तीन वर्ष तक की सामग्री हो । एक वर्ष के लिये पर्याप्त धान्यादि का संचय करने वाले को कुम्भीधान्यक कहते हैं तथा जिसके पास केवल तीन दिन तक की अथवा जिसके पास केवल एक ही दिन तक के लिये धान्यादि सामग्री हो उसे क्रमशः श्र्यहिक और अश्वस्तनिक कहा जाता है । मनु और याज्ञवल्क्य ने उपर्युक्त वर्गीकरण में पूर्व की अपेक्षा पर को अधिक श्रेष्ठ माना है । इस प्रकार सबसे श्रेष्ठ अश्वस्तनिक है जिसके दूसरे दिन के लिये भी सामग्री नहीं है । इस प्रकार हम देखते हैं कि त्याग की दृष्टि से समाज कितना आगे था । पारिवारिक जीवन में पारमार्थिकता को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है । प्रत्येक परिवार में त्याग की होड़ लगी है । कोई भी संचय को महत्व नहीं देता है । समाज में वस्तुओं का समुचित विभाजन होता है । इसी कारण सारा समाज सुख की निद्रा में सोता हुआ भी जागरूक है । आज हमारे सामने जो समस्यायें उपस्थित हैं उनका एकमात्र कारण है, हमारे समाज में त्याग की भावना का अभाव और संचय की भावना का विकास, जिसके कारण वस्तुएं एक स्थान पर तो संचित हो जाती हैं और दूसरे स्थान पर दृष्टिगोचर ही नहीं होती हैं फलतः समाज सुरसा सदृश वदन व्यादन कारिणी विषम परिस्थितियों में उलझा हुआ जीवन को दुखमय समझने लगा है परन्तु प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था में त्याग की होड़ थी और सभी सुखी थे । इस प्रकार समाज में स्थित गृहस्थों के लिये त्याग की पावन भावना के साथ ही साथ यम और नियम दोनों का पालन करना भी आवश्यक है । ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य,

---

1. मनु० 2.212 ।
2. मनु० 6.27, 28 ।
3. मनु० 6.89, 90 ।

निश्छलता, अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रियदमन ये यम कहलाते हैं। स्नान, दान, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह, गुरु शुश्रुषा, शौच, अक्रोध तथा अप्रमाद ये नियम कहलाते हैं। मनु यमों के ऊपर विशेष बल देते हैं।[1]

गृहस्थाश्रम में केवल यमों और नियमों का पालन ही नहीं है बल्कि उसको पंच यज्ञों को यथा शक्ति करना भी आवश्यक है। इसके लिये निरन्तर शास्त्रों का अवलोकन भी आवश्यक समझा जाता है। इस प्रकार प्रथम आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) में अर्जित ज्ञान गृहस्थाश्रम में आकर निरन्तर शास्त्रावलोकन से हस्तकमलवत् हो जाता है। साथ ही साथ नित्य प्रति त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के चिंतन से पारमार्थिक जीवन की तरफ उसकी प्रवृत्ति को झुकाव मिलता है। गृहस्थाश्रम में आकर मनुष्य केवल भौतिकवादी नहीं हो जाता है। उसके सामने जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष हर समय विचारणीय है।

मनु ने मुक्त कण्ठ से गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा करते हुए कहा है कि जिस प्रकार प्राण वायु का आश्रयकर सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रयकर अन्य तीनों आश्रम चलते हैं। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम से ही सभी आश्रम ज्ञान और अन्न प्राप्त करते हुए अपने-अपने आश्रम में जीवन निर्वाह करते हैं। फलतः गृही ही सर्वश्रेष्ठ है।

गृहस्थ आश्रम के आवश्यक कर्म

गृहस्थ आश्रम को मानव जीवन का कर्मक्षेत्र कहा जा सकता है। अन्य आश्रमों में मनुष्य का उतना अधिक उत्तरदायित्व नहीं रहता है जितना कि गृहस्थ आश्रम में अनेक प्रकार के व्रतों और नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। मनु ने गृहस्थ के कुछ आवश्यक कर्मों का निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया है।

(1) गृहस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को अन्नादि (तिल, व्रीड़, धान्य) से, जल से, दूध, मूल और फलों आदि के द्वारा प्रतिदिन श्राद्ध करना चाहिए।[2]

(2) गृहस्थ को प्रतिदिन वेदपाठ से ऋषियों की, यथा विधि हवन से देवताओं की, श्राद्ध के द्वारा पितरों की, अन्न दान से मनुष्यों की, और बलि कर्म के द्वारा भूतों की पूजा एवं संतुष्टि करना चाहिए।[3]

(3) गृहस्थ जीवन में भिक्षा दान का बड़ा महत्व है। जो फल अन्य आश्रमों में बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है वह फल गृहस्थ आश्रम में भिक्षा दान से ही सहज ही उपलब्ध हो जाता है।[4]

---

1. मनु० 4.7।
   याज्ञ० स्मृति गृहस्थधर्म प्रकरण 128।
2. यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
   यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्॥ (मनु० 4.204)
3. मनु० 3·82
4. मनु० 3.81

(4) घर पर समागत अतिथि का सत्कार करना गृहस्थ का सबसे परम कर्तव्य होता है। मनु ने यहाँ तक स्पष्ट कर दिया है कि यदि घर में अन्न न भी हो तो तृण, भूमि, जल और मधुर भाषण जो हर समय प्रत्येक सज्जन के पास विद्यमान रहते हैं उनसे ही अतिथि का सत्कार करना चाहिए।[1]

(5) गृहस्थ को अपने घर पर आये हुए समस्त अतिथि, ब्राह्मण, स्वजातीय आदि को भोजन करा देने के बाद स्वतः अपनी धर्मपत्नी के साथ भोजन करना चाहिए।[2]

वानप्रस्थाश्रम

आश्रमों के क्रम में वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है। यह आश्रम गृहस्थाश्रम की परिसमाप्ति और सन्यास के मध्य का ऐसा समय है जिसमें मनुष्य जीवन के उपभोगों की ओर से विराग का अभ्यास करता है। मनु ने कहा है कि गृहस्थ को चाहिए कि जब उसके केश सफेद हो जायँ, शरीर के चमड़े पर झुर्रियाँ पड़ जायें और अपनी आत्मा को सांसारिक भोगों की ओर से कुछ अशान्ति प्रतीत होने लगे तो वह अपनी स्त्री को, यदि वह चाहती है तो साथ लेकर अन्यथा यदि वह वानप्रस्थाश्रम में नहीं जाना चाहती है तो उसे पुत्रों को सौंपकर स्वतः वानप्रस्थ ग्रहण कर ले।[3] इसके अतिरिक्त गृहस्थाश्रम का परित्याग करते समय उसको चाहिए कि सभी वस्त्राभूषणों का परित्याग कर दे परन्तु श्रोताग्नि की सामग्री (स्रुवा आदि) अपने साथ ले जाय। इस प्रकार शान्तचित्त से ग्राम से निकल कर जंगल में जाकर अपनी इन्द्रियों का नियमन करता हुआ जीवन के मार्ग को प्रशस्त बनावे।[4]

जिस प्रकार द्वितीय आश्रम के कर्मों की योजना प्रथम आश्रम के ज्ञानार्जन द्वारा सम्पन्न होती है ठीक उसी प्रकार तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) चतुर्थ आश्रम (सन्यास) के लिये योजना निर्मित करता है। तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) में व्यक्ति को निवृत्तमार्गी होकर ज्ञान और उपासना के द्वारा साधना करनी पड़ती है। प्रथम आश्रम का ज्ञानार्जन गृहस्थ को सत् असत् कर्मों के विवेक के द्वारा कर्म की ओर प्रवृत्त कराता हुआ कर्मयोगी बनाता है। वानप्रस्थ चतुर्थ आश्रम (सन्यास) में प्रवेश करने के पहले ही महा प्रस्थान कर सकता है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि केवल वायु का सेवन करते हुए ईशान कोण की ओर वानप्रस्थी को प्रहाप्रयाण करना चाहिए।[5]

मनु के अनुसार यह महाप्रयाण तभी उपयुक्त समझा जाता है जब वानप्रस्थी किसी ऐसे रोग से पीड़ित न हो जिसकी चिकित्सा सामान्य न हो।[6] इस प्रकार हम देखते

1. मनु० 3.95
2. मनु० 3.101
3. मनु० 3.116
4. मनु० 6.3
5. मनु० 6.4
6. मनु० 6.31

हैं कि तृतीयाश्रम (वानप्रस्थ) चतुर्थ आश्रम (सन्यास) की भूमिका के रूप में है। वानप्रस्थ आश्रम में वह व्यक्ति काम, क्रोध मोहादि पर विजय प्राप्त करता है।

ऋतुओं का सम्बन्ध केवल गृहस्थ आश्रम से ही नहीं है वरन् सभी आश्रमों से है। प्रत्येक आश्रम का व्यक्ति इन ऋतुओं के अनुकूल ही अपने दैनिक क्रिया कलाप सम्पादित करता है। मनु ने कहा है कि वानप्रस्थ यती ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि का सेवन करता हुआ अपनी तपस्या की वृद्धि करता है। वर्षा ऋतु में वह खुले मैदान में निवास करता है और शीतकाल में गीले कपड़े धारण करता है। यह इसलिए कि उसकी इन्द्रियाँ उसके पूर्ण वश में आ जायँ। वह प्रत्येक ऋतुओं में विपरीत आचरण करता है। इस प्रकार अपनी भौतिक कामनाओं में प्रवहमान इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करता हुआ परम शान्ति की ओर अग्रसर होता है।[1]

परन्तु तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) का ज्ञान व्यक्ति का पारमार्थिकता का बोध कराते हुए निष्काम और निवृत्त कर्ममार्ग की ओर अग्रसर करता है। इस आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति को उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड को चरितार्थ करना पड़ता है। उसे कर्म की कठोरता के द्वारा शरीर का शोषण करना पड़ता है।

वानप्रस्थी के लिये तीन बार स्नान करने का विधान है। स्वयंजात फल मूलादि ही उसके भोज्य पदार्थ हैं। वह भिक्षा ग्रहण कर सकता है, परन्तु वह उतनी ही भिक्षा ले सकता है जितने से उसके शरीर की रक्षा हो सके। भिक्षा के द्वारा प्राप्त भोजन को केवल आठ ग्रास ही करना चाहिए।[2] भूमि शयन तथा पंचाग्निताप आदि उसकी दैनिकचर्या होती है। जब वानप्रस्थी अपने को इस नवीन वातावरण के अनुकूल बना लेता है (जब वह अपने अन्तःकरण में पारमार्थिकता की अग्नि को प्रज्वलित करने में समर्थ हो जाता है) तब गृहस्थाश्रम से लाई हुई अग्निहोत्र की अग्नि का भी त्याग कर देता है। इस स्थिति में वह मुनिजनोपयुक्त नीवारादि अन्नों का भी परित्याग करके केवल फल-मूल के ही द्वारा शरीर रक्षा करता है।[3]

वानप्रस्थी एक दिन, एक मास, छः मास अथवा एक वर्ष तक खाने योग्य नीवार आदि का संग्रह कर सकता है। परन्तु प्रत्येक वर्ष के आश्विन मास में उसे पूर्व संचित सब कुछ (अन्न, वस्त्र, कन्द आदि) त्याग देना चाहिए ऐसा मनु का कथन है।[4]

सन्यास आश्रम

सन्यास आश्रम मनुष्य जीवन की वैज्ञानिक भूमि का अन्तिम आश्रम है। अतएव इसमें प्रविष्ट होने के पूर्व सन्यासोन्मुख प्राणी को अपने जीवन के निर्दिष्ट सभी

1. मनु० 6.23
2. मनु० 6.24
   (मनु० 6.27, 28)
3. मनु० 6.26
4. मनु० 6.12, 18, 15

आवश्यक उत्तरदायित्वों से निवृत्त हो जाना चाहिए। मानव के प्रमुख उत्तरदायित्वों में ऋणत्रय आते हैं। प्रथम दो आश्रमों में ज्ञानार्जन और पुत्रोत्पादन के द्वारा क्रमशः ऋषि ऋण और पितृ ऋण से मुक्त होने की व्यवस्था है। द्वितीय आश्रम में भी देव ऋण यज्ञादिकों के द्वारा चुकाया जा सकता है। इसके लिये तृतीय आश्रम वानप्रस्थ भी सहायक है जिसमें यज्ञादि कृत्यों का विधान किया गया है। प्रजापत्यादि यज्ञों की परिसमाप्ति (तृतीय आश्रम में) के उपरान्त ही सन्यास ग्रहण किया जा सकता है ऐसा विभिन्न स्मृतिकारों का मत है।[1]

मनु का कथन है कि सन्यासी मुंडित भी हो सकता है अथवा केश शिखा आदि को भी धारण कर सकता है। वह केवल बिना धातु वाला (मिट्टी, कास आदि) कमण्डलु धारण कर सकता है। साथ ही साथ उसको दण्ड धारण करना आवश्यक समझा जाता है। याज्ञवल्क्य सन्यासी को त्रिदण्ड, अर्थात् बाँस के तीन पतले दण्ड को धारण करने का संकेत करते हैं।[2] मनु ने केवल दण्ड शब्द का ही प्रयोग किया है परन्तु बारहवें अध्याय के दशम श्लोक में उन्होंने त्रिदण्डी शब्द की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि त्रिदण्डी वह है जिसने अपनी बुद्धि में वागदण्ड, मनोदण्ड, तथा काय दण्ड को निहित कर लिया है। अर्थात् वह वाचिक, मानसिक तथा कायिक विषयों में पूर्ण निरपेक्षता प्राप्त कर लिया हो। याज्ञवल्क्य के द्वारा उद्धृत दण्ड शब्द भी वागादि दण्ड के अर्थ में प्रयुक्त है क्योंकि ज्ञान के बिना धारण किया गया दण्ड के अर्थ में प्रयुक्त है क्योंकि ज्ञान के बिना धारण किया गया दण्ड पाप की ओर प्रवृत्त करने वाला होता है। इस दण्ड के प्रसंग में दक्षस्मृति 7-29 में स्पष्ट कहा गया है कि बाँस के त्रिदण्ड से कोई त्रिदण्डी नहीं कहलाता है। जो आध्यात्मदण्ड से अलंकृत हो वह दण्डी है। इसके अतिरिक्त मनु ने यह भी स्पष्ट ही कहा है कि भ्रमणशील सन्यासी केवल एक ही बार भिक्षाटन कर सकता है। वह भी ऐसे समय में करना चाहिए जब कि गृहस्थों के यहाँ अग्नि शान्त हो गयी हो।[3]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि जब 3 मुहूर्त दिन केवल अवशेष रह गया हो उस समय संन्यासी को भिक्षाटन करना चाहिये। मनु ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि भिक्षा भी ऐसे ही घर माँगनी चाहिए जहाँ पर अन्य, साधु, ब्राह्मण, भिक्षुक आदि

1. मनु० 6.34
   (मनु० 6.35)
   (मनु० 6.36)
   (मनु० 6.38)
2. मनु० 6.52
   (मनु० 6.53)
3. मनु० 6.54
   (मनु० 6.55)
   (मनु० 6.56)

न उपस्थित हो।[1] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे विधान में महान त्याग की आवश्यकता है। संन्यासी में उसके त्याग की पराकाष्ठा ही उसका गौरव है। इसके अन्दर एक तरफ त्याग की पराकाष्ठा है और दूसरी तरफ गृहस्थ को भी भारमुक्त करने की कितनी मनोवैज्ञानिक कल्पना है। इतना ही नहीं भिक्षा ग्रहण करने में भी मात्रा का बड़ा ही वैज्ञानिक नियंत्रण है। सन्यासी को उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिए जितने से उसके शरीर की यात्रा हो सके।[2]

संन्यासी को प्रमुख रूप से स्वाध्याय और आत्मचिंतन एवं आत्मनियंत्रण पर ध्यान देना चाहिए। मनु आदि स्मृतिकारों ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि संन्यासी को समभाव वाला, होना चाहिए। उसको लोभ, हानि, हर्ष, क्षोभ, आदि को समानरूपेण अनुभव करना चाहिए। यह निवृत्ति और कर्म संन्यास मार्ग का मुख्य लक्षण है। इन्द्रियों का निग्रह संन्यासी के लिये परमावश्यक है क्योंकि ब्रह्म का साक्षात्कार उसका परम लक्ष्य है जिसके लिये अत्यन्त आवश्यक है कि संन्यासी सांसारिकता से पूर्णतः विमुख हो जाय। जब वह संसार की असारता से पूर्णतः विमुख हो जायेगा तभी उसको आत्मशान्ति प्राप्त हो सकती है। अन्यथा उसका परमोद्देश्य पूर्ण नहीं होगा।[3] इसके अतिरिक्त मनु आदि स्मृतिकारों ने संन्यासी को पूर्णरूपेण निवृत्त मार्ग की ओर प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है।

□□

1. मनु० 6.51
2. मनु० 6.50
   (मनु० 6.58)
3. मनु० 6.57
   (मनु० 6.59)
   (मनु० 6.60)
   (मनु० 6.61, 64, 74, 75, 80, 81 याज्ञ० यति प्रकरण 61.66)

वर्ण व्यवस्था

व्युत्पत्ति की दृष्टि से वर्ण शब्द प्रचलित अर्थ से भिन्नता रखता है। वर्ण शब्द 'वृ' धातु से बना है इसका प्रयोग वर्णन करने, वरण करने, एवं रंग के अर्थ में होता है। कहीं-कहीं जीविका के भी अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है।[1]

मनुस्मृति में भी प्रयुक्त वर्ण शब्द अनेकार्थी है परन्तु मूलगत वह एक ही ओर संकेत करता है। ब्राह्मणादि चारों वर्णों का वर्ण कमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण माना गया है। इसी प्रकार सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण का वर्ण भी अलग-अलग माना गया है। इन दोनों के रंगों का परस्पर समन्वय भी दिखलाया गया है। इसीलिए ब्राह्मण का सत्वगुण, क्षत्रिय का रजोगुण, वैश्य का रजोगुण और तमोगुण तथा शूद्र का तमोगुण माना गया है।[2]

वर्ण व्यवस्था की कल्पना भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उर्वरता का परिणाम है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था के द्वारा समाज को सुसंगठित करके मानव जीवन के परम लक्ष्य मोक्षोपलब्धि के लिए जीवन मार्ग को प्रशस्त किया गया है जिससे इस महान यात्रा में चलता हुआ व्यक्ति विश्राम प्राप्त कर सके। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के दो स्वरूप प्राप्त होते हैं। एक अन्तर्मुखी और दूसरा बहिर्मुखी। अपने अन्तर्मुखी स्वरूप एवं गुणों के कारण मनुष्य को विभिन्न वर्णों में विभक्त किया गया है और अपने बहिर्मुखी स्वरूप एवं गुणों के अनुकूल मनुष्य यथाक्रम आश्रम की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का सतत् प्रयास करता है। समाज में सभी व्यक्ति समान बुद्धि, गुण और शक्ति वाले नहीं होते हैं। किसी में बुद्धि का विकास अधिक दृष्टि गोचर होता है तो किसी में शक्ति का प्राधान्य होता है। इसी तत्व को स्मृतियों की शैली में कहा गया है कि किसी में सत्व गुण का विकास है तो किसी में रजोगुण का चमत्कार है तो किसी में तमोगुण की अधिकता है। प्रत्येक व्यक्ति इन्हीं तीन गुणों की प्रेरणा के अनुकूल कार्य करता है और इन्हीं गुणों एवं कर्मों के आधार पर उसके वर्ण का निर्णय होता है।

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार केवल

---

1. वृ वरणे, वर्ण वर्णने, वृ आच्छादने।
   जीविकार्थ व्रियते इति वर्णः।
   वर्णयति कापुरुषम् इति वर्णः वस्मवच्छादयति
   श्वेतः, रक्तः, पीतः, कृष्णः इति वर्णः॥
2. K. V. Aiyangor
   (Some social and political aspect of Manu)

जाति के (जन्म) द्वारा ही वर्ण का निर्णय होता है। दूसरे मत के अनुसार कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था होनी चाहिए। तीसरे मत के अनुसार जाति और कर्म दोनों के अनुकूल कर्म करने वाला व्यक्ति ही उस वर्ण का माना जा सकता है।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्ण की दैवी उत्पत्ति मानी गई है। वेदों में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक विराट पुरुष की कल्पना की गई है। उसी विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी गयी है।[1]

मनु के अन्य उद्धरण के अनुसार सभी व्यक्तियों में सत्व, रजस्, और तमस् गुण प्राप्त होते हैं अतः जिस मनुष्य में जिस गुण की अधिकता होती है वह उसी गुण के अनुकूल शरीर धारण करता है।[2]

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के विषय में मधुसूदन झा का कथन है कि यह वैदिक और लौकिक दो प्रकार की है। वैदिक विभाजन वैज्ञानिक है। वेदों के अपौरुषेयत्व के कारण यह अपौरुषेय और नित्य है। लौकिक वर्गीकरण समाजिक है। समाज की व्यवस्था की कृत्रिमता के कारण, ईर्ष्या आदि दोषों से विलग होने के कारण इस मानव समाज के संगठन को भी अपरिवर्तनीय माना जाता है। अतः धर्म के द्वारा चार प्रकार से कर्मों को विभाजित करके मानव समाज में चातुर्वर्ण्य की स्थापना की गयी है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मनीषियों ने गुण कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का सृजन किया।

ब्राह्मण

द्विजों में सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण है। ब्राह्मण वर्ण का आधार उसकी सात्विक वृत्ति, एवं उसका सात्विक स्वभाव है। इस प्रकार ब्राह्मण संज्ञा समाज की मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है। मनु द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मणों के कृत्यों को देखने से पता चलता है कि ब्राह्मण सामान्य स्तर से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति होता है। जिसकी मान, अपमान, सुख, दुःख, अपने और पराये में समान दृष्टि होती है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ब्राह्मण का कार्य, अध्ययन, अध्यापन, धार्मिक विधि विधानों में संलग्न रहना आदि है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण को सम्मान आदि को विष तुल्य एवं अपमान को अमृत तुल्य समझना चाहिए।[4] ब्राह्मण को सब काम निष्काम होकर करना चाहिए क्योंकि वह बुद्धि का स्वरूप होता है यदि वह आसक्त होकर किसी भी कार्य को करता

---

1. पुरुष सूक्त 8।4।19
2. मनु० 12.25
3. मधुसूदन झा "देवासुर ख्याति" पृ० 52-56
4. अध्ययनमध्यापनं च यजनं याजकं तथा।
   दानं प्रति ग्रहंचैव ब्राह्मणनाम कल्पनाम् ॥
   सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेन विषादिव।
   अमृतस्येव चाकांक्षे दवमानस्य सर्वदा ॥

है तो उससे सामाजिक क्षति की संभावना हो सकती है। मनुस्मृति में मनु ने जहाँ ब्राह्मणों के गरिमा मय पद का चित्रण किया है वहीं पर ब्राह्मणों के ऊपर सम्पूर्ण समाज के उत्तरदायित्व को भी सौंपा है। बाद के साहित्य में ज्यों-ज्यों वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर होने लगी त्यों-त्यों ब्राह्मण वर्ग भी अपने कर्तव्यों की ओर से उदासीन होकर अधिकारों की ओर ही आकर्षित होने लगा। जिसके परिणामस्वरूप वर्ण व्यवस्था की वह प्राचीन वैज्ञानिक गरिमा समाप्तप्राय हो गई। और आज वर्ण व्यवस्था विवादास्पद बन गई है।

पाराशर स्मृति और मनुस्मृति में ब्राह्मण को षट्कर्मा कहा गया है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में कहा गया है कि छः कर्मों में से तीन कार्य वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, सत्पात्रों से दान ग्रहण करना ये जीविका सम्बन्धी कर्म हैं। इन तीनों कार्यों को ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता है। यदि कोई ब्राह्मण इन षट् कर्मों को छोड़ कर अन्यत्र श्रम करता है तो वह समृद्ध होते हुए भी शूद्र के समान है।[1] ब्राह्मण के लिए त्याग उसका परम धर्म है। जिस प्रकार मुख सभी अंगों में श्रेष्ठ है परन्तु उसमें त्याग की मात्रा अधिक है वह जो कुछ खाता है उसको अपने पास नहीं रखता है बल्कि अन्य अंगों की पुष्टि के लिए भेज देता है उसी प्रकार ब्राह्मण के सम्पूर्ण ज्ञान का प्रयोग चातुर्वर्ण्य के कल्याण के लिए होना चाहिए। इसीलिए अन्य वर्णों के व्यक्ति उसको देवता (द्योतते प्रकाशते इति देवता) मानते हैं। सामाजिक मार्ग को प्रशस्त करना उसका परम कर्त्तव्य है।

क्षत्रिय

'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः' अर्थात् क्षति से रक्षा करने वाला क्षत्रिय होता है। क्षत्रिय को रजोगुणी कहा गया है। रजोगुण के मुख्य लक्षण क्रियाशीलता, वेग तथा उत्साह हैं। मानसिक स्तर की यही क्रियाशीलता, वेग तथा उत्साह जब सामाजिक स्तर पर प्रकट होती है तो उस व्यवस्था को मनु ने समाज शास्त्रीय परि-भाषा में 'क्षत्रिय' का गुण बतलाया है। पुरुष सूक्त के अनुसार क्षत्रिय की उत्पत्ति विराट् पुरुष के बाहु से होती है। अतः क्षत्रिय का परम कर्त्तव्य समाज को आपत्तियों से उस प्रकार बचाना है जिस प्रकार बाहु शरीर की बाहरी आघात से रक्षा करता है। यज्ञ करना, वेदाध्ययन और दान देना ये तीनों काम क्षत्रिय के लिए भी आवश्यक हैं। मनु के अनुसार क्षत्रिय समाज का शासक होता था। वह ब्राह्मणों की परामर्श से साम, दाम, दण्ड एवं भेद के प्रयोग के साथ प्रजा का पालन करता था और समाज में दण्ड निर्धारण करता था। इसके अतिरिक्त समाज में धर्म के विरुद्ध जाने वाले व्यक्ति को दण्ड देना, आपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति की रक्षा करना उसका परम कर्त्तव्य समझा जाता था।

---

1. षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रहः॥
(मनु० 10.76)

वैश्य

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के विराट् पुरुष के उदर से वैश्य की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। वैश्य भी सामाजिक संस्कारों की उपज है। अतः वह भी द्विज की श्रेणी में आता है। वैश्य रजोगुण एवं तमो गुण से मिश्रित होता है। तमोगुण का स्थूल रूप स्थिरता, जड़ पदार्थ संचय इत्यादि है। मनु का कथन है कि वैश्य का मुख्य कर्तव्य गाय बैल पालना, दान देना, यज्ञ करना, व्यापार करना, खेती करना, सूद से आय करना आदि है। विराट् पुरुष के उदर होने के कारण वैश्य का कर्तव्य भी उदर की तरह त्याग पूर्ण है। जिस प्रकार उदर सब कुछ धारण करने के बाद रक्त के रूप में सम्पूर्ण शक्ति को अंगों में विभाजित कर देता है और अंगों का पोषण करता है उसी प्रकार वैश्य भी सम्पूर्ण समाज का भोजनादि के द्वारा पोषण करता है।

एक स्थल पर मनु ने कहा है कि यदि इन निर्दिष्ट व्यापारों से वैश्य की जीविका न सम्पन्न हो पाये तो वह शूद्र की जीविका वाले कर्मों को कर सकता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय की भाँति वैश्य को भी सभी सामाजिक उत्तरदायित्व पार करने पड़ते थे। उसको भी यज्ञ करना, दान देना एवं यथाक्रम सभी आश्रम व धर्मों का पालन करना आवश्यक था।

शूद्र

प्राचीन भारत में चारों वर्ण एक दूसरे से पूर्णतः आबद्ध थे। बुद्धि का कार्य ब्राह्मण के लिये, रक्षा का कार्य क्षत्रिय के लिये, भरण पोषण का कार्य वैश्य के लिये एवं सेवा का कार्य शूद्र के लिये निश्चित था। सभी वर्ण एक दूसरे के प्रति कल्याण की भावना रखते थे। यह वर्ण विभाजन 'गुण कर्म विभागशः' हुआ था अतः एक वर्ण को दूसरे वर्ण के गुणों से पूर्ण श्रद्धा होती थी। यद्यपि क्रम की दृष्टि से शूद्र का अन्तिम स्थान है परन्तु फिर भी वह सबकी कृपा का पात्र है। यद्यपि मनु ने मनुस्मृति में शूद्र के निन्दनीय व्यवहारों की कटु आलोचना की है परन्तु शूद्र वर्ण की अवहेलना उन्होंने नहीं किया है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है ब्राह्मण का गौरव उसके ज्ञान में है, क्षत्रिय का गौरव पराक्रम में निहित है, वैश्य की महत्ता धनधान्य में विद्यमान है परन्तु शूद्र की गरिमा सेवा वृत्ति से सम्पन्न होने के कारण जन्म से ही है। अर्थात् वह जितना ही अन्य तीनों वर्णों की सेवा में अपने को समर्पित करता है उतना ही उसका महत्व अधिक बढ़ता है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं प्राचीन भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था सामाजिक विकास की पूर्ण समृद्ध कड़ी है जिसमें सम्पूर्ण समाज एक सूत्र में आबद्ध होकर आत्मशान्ति का मार्ग खोजता है। □□

---

1. वैश्यो जीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत्।
   अनाचरन्नकार्याणि निवर्तते च शक्तिमान्॥
   (मनु० 10।98)
2. विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठयं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
   वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ (मनु० 2।155)

संस्कारों का महत्व

संस्कार शब्द ''सम'' पूर्वक ''कृ धातु में ''घञ'' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। मीमांसक यज्ञांगभूत पुरोडास आदि से इसका सम्बन्ध बतलाते हैं।[1] अद्वैत वेदान्ती जीवन पर शारीरिक क्रियाओं से मिथ्या आरोप को संस्कार मानते हैं।[2] नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यंजक शक्ति को संस्कार समझते हैं। जिसका परिगणन वैशेषिक दर्शन में 24 गुणों के अन्तर्गत किया गया है। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग शिक्षा, संस्कृति प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप स्वभाव, क्रिया, छाप, स्मरण, शक्ति, शुद्धिक्रिया, धार्मिक विधि, अभिषेक, विचार, भावना, धारण, कार्य का परिणाम आदि अनेक अर्थों में किया गया है। इस प्रकार संस्कार शब्द व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिये किये जाने वाले अनुष्ठानों में से है। जिससे मनुष्य समाज का परिष्कृत व्यक्ति हो सके।

हमारे प्राचीन भारतीय विद्वानों का विचार सर्वदा व्यक्ति और समाज का कल्याण करना था। जिसमें सांसारिक वस्तुओं एवं वातावरण के मध्य उच्चकोटि का आत्मिक विकास विद्यमान था। ये संस्कार आत्मिक विकास के वाह्य चिन्ह हैं।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत संस्कारों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संस्कारों द्वारा परिमार्जित होता है। भारतीय जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके प्रत्येक पग पर संस्कारों का विधान है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने के पूर्व उसको संस्कारों के द्वारा संस्कृत होना परमावश्यक होता है। यहाँ तक कि हमारे दैनिक जीवन में भी संस्कारों की महती आवश्यकता पड़ती है। जिसका सम्बन्ध हमारी सहज प्रवृत्तियों से है। संस्कारों की इस परम्परा के पीछे पूर्ण मानवीय विज्ञान अन्तर्हित है। प्रत्येक संस्कार मानव जीवन के विकास में प्रोत्साहन देने वाला है चाहे यह शारीरिक विकास हो अथवा आत्मिक।

भारतीय संस्कृति के मूलग्रन्थ वेद हैं। वेदों के अध्ययन और अध्यापन के लिये भी संस्कारों की महती आवश्यकता है। असंस्कृत व्यक्ति वेदाध्ययन का अधिकारी नहीं समझा जाता है। इसके अतिरिक्त याज्ञिककृत्यों के क्षेत्र में भी संस्कारों का बड़ा ही महत्व है। संस्कारों से संस्कृत द्विज ही यज्ञ कार्य को निष्पन्न कर सकता है। यही नहीं द्विजों को भी प्रतिदिन यज्ञों के अनुष्ठान के निमित्त संस्कृत होना पड़ता है।

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को परिमार्जित करके परमानन्द के सुखानु-

---

1. वाचस्पत्य वृहदभिधान 5
2. रघुवंश 3.35

नुभव के योग्य बनाने के निमित्त संस्कारों का संयोजन किया। वे जानते थे मानव जीवन के दुःखों का मूल कारण उसके द्वारा सम्पादित कर्मों की परम्परा है जिसके अनुसार मनुष्य को सुख और दुःख का फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार यदि मनुष्य अपने जीवन में संस्कृत कर्मों का आचरण करे तो उसका वर्तमान जीवन मार्ग तो प्रशस्त होता ही है साथ ही साथ जन्मान्तर में भी अच्छे संस्कारों का प्रभाव पड़ता है।

सर्व सामान्य जीवन में प्रतिदिन हम देखते हैं कि एक ही परिवार में एक ही माता पिता से पैदा होने वाले एक ही प्रकार के वातावरण में निवास करने वाले एक ही प्रकार का खाद्य पदार्थ सेवन करने वाले दो बच्चों की प्रवृत्तियों में विशेष अन्तर पाया जाता है। एक प्रतिभावान् सद्कर्मों की ओर अग्रसर होने वाला होता है और दूसरा प्रतिभाशून्य एवं दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने वाला होता है। यह क्या है? यह केवल पूर्व जन्म के कृत कर्मों एवं संस्कारों का प्रभाव है। एक के कर्म एवं संस्कार संस्कृत हैं जिसके कारण उसको प्रारम्भ से ही प्रतिभा की उपलब्धि हुई और दूसरा पूर्व जन्म के अच्छे संस्कारों से वंचित है जिसके कारण वह प्रतिभाशून्य है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का आधार पूर्व कृत संस्कारों को मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं मानव जीवन में संस्कारों का महत्व बहुत ही स्पष्ट है।

इन संस्कारों का उद्देश्य गर्भजन्य दोषों का परिहार करना, वर्णोचित योग्यता का अभिनिवेश करना, एवं जातक के वर्णोचित गुणों में अभिवृद्धि करना है। एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार दीपक का प्रकाश स्वच्छ होते हुए भी कांच के धुंधलेपन के कारण धीमा प्रतीत होता है। परन्तु उसका प्रभाव दीप की ज्योति पर पड़ता है और वह अधिक प्रकाशवान प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः संस्कार न तो दीपक का हुआ और न प्रकाश का ही, संस्कार तो दीपक के आवर्तक कांच का हुआ। ठीक उसी प्रकार जातक के शरीर के लिये अनेक प्रकार के संस्कारों का विधान किया गया है। यहाँ यह संस्कार शरीर सौन्दर्य के लिये नहीं होते हैं बल्कि आत्मा के अभ्युदय के लिये होते हैं। यह पन्चतत्व का शरीर आत्मा को आच्छादित किये हुए है। पन्चतत्व का दुर्ग भी वन्दीकृत आत्माराग, द्वेषादि षड रिपुओं के अधीन है। इससे मुक्त होने के बाद आत्मा का साक्षात्कार परमात्मा से ही हो सकता है। इसी को हम मोक्ष या मानव जीवन का परम लक्ष्य कहते हैं। ये संस्कार मानव के उन दोषों का परिमार्जन करते हैं। संस्कृत बनाते हैं इसीलिये संस्कार की संज्ञा से विभुषित होते हैं।

यद्यपि इन संस्कारों का उदय वैदिक काल में हो गया था परन्तु पूर्ण वैज्ञानिक विकास उस समय नहीं हो पाया था फलतः वैदिक काल में इसका उल्लेख कम मिलता है। जीवन के विकास के साथ-साथ संस्कारों का महत्व भी वैज्ञानिक होता गया। आध्यात्मिक भावना को ग्रहण योग्य बनाने के लिये इन्द्रियों का संस्कृत होना परमावश्यक होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये संस्कारों का जन्म हुआ।

संस्कारों का स्वरूप

भारतीय विद्वानों ने मानव जीवन को संस्कृत करने वाले संस्कारों के स्वरूप

निर्धारण करने में बड़ी ही प्रज्ञा से काम लिया है। संस्कारों का नामकरण भी बहुत मनोवैज्ञानिक है। प्रत्येक संस्कार के पीछे मनुष्य के आत्मिक और शारीरिक संस्कार की कल्याणमयी भावना दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उन संस्कारों की उपयोगिता के विषय में सभी विद्वान एकमत हैं परन्तु इन संस्कारों की संख्या और क्रम के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। आश्वलायन गृह्य सूत्र में संस्कारों को ग्यारह, पारस्कर गृह्य सूत्र में 13, वैखानस गृह्य सूत्र में 18, गौतम धर्म सूत्र में 40 माना गया है। परन्तु भगवान मनु ने 13 संस्कारों को ही महत्वपूर्ण बतलाया है। उनका कथन है कि इन संस्कारों के पालन के द्वारा मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश पाने के योग्य हो जाता है। इन संस्कारों की संख्या निम्नलिखित है।

(1) गर्भाधान
(2) पुंसवन
(3) सीमन्तोन्नयन
(4) जातकर्म
(5) नामधेय या नामकरण
(6) निष्क्रमण
(7) अन्न प्राशन
(8) चूड़ाकरण
(9) उपनयन यामौन्जीवन्धन
(10) केशान्त
(11) समावर्तन
(12) विवाह
(13) श्मशान या अन्त्येष्टि

(1) गर्भाधान संस्कार

जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसको गर्भाधान कहते हैं।[1] यह संस्कार भारतीय भावना की विकसित परम्परा का बोधक है। प्रत्येक व्यक्ति गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते ही पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण से युक्त हो जाता है। फलतः पितृ ऋण से मुक्त होने के लिये वह गर्भाधान संस्कार को निष्पन्न करता है। जिसमें वह उत्तम सन्तान की कामना करता है। गृह्य सूत्रों में गर्भाधान संस्कार का सर्वप्रथम विधिवत् विधान मिलता है। विवाह के उपरान्त ऋतु स्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति को प्रतिमास जाना पड़ता है। अनेक व्रतों के बाद अग्नि में पकवान की आहुति दी जाती है इसके अनन्तर सहवास के लिये पति पत्नी को प्रस्तुत किया जाता है। जब पत्नी सुसज्जित एवं अलंकृत हो जाती है उस समय पति देवताओं की स्तुति करता है। इसके बाद जनन मंत्रों का पाठ करता हुआ पुरुष अपने अंगों को मलता है। आलिंगन के उपरान्त पूषा की स्तुति के साथ पुरुष गर्भ में वीर्य का आधान करता है। पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करता है और उसके दक्षिण स्कन्ध पर झुकते हुए कहता है 'सुगुम्फित केशों वाली तुम, तुम्हारा हृदय जो स्वर्ग में निवास करता है, चन्द्रमा में निवास करता है, जिसे मैं जानता हूँ क्या मुझे पहचानता है ? क्या हम शतशरद देखेंगे ?[2]

---

1. गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद्गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्म नामधेयम। (पूर्व मीमांसा)
2. पा० गृ० सूत्र० 1.12.9।

बाद में स्मृति ग्रन्थों में यह संस्कार कुछ कर्म काण्डीय रूप धारण कर लेता है जिससे इसके सम्पन्न होने के समय एवं उपचार का भी विचार होने लगता है। मनु-स्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति इसका समय पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक उपयुक्त मानती है।[1] गर्भाधान रात्रि के ही समय हो सकता था दिन के समय कदापि नहीं।[2] इस विषय में एक उल्लेख और मिलता है वह यह है कि सम्भोग का समय प्रायः पिछली रात्रियाँ ही उपयुक्त मानी जाती हैं। ('तत्राप्युत्तराः प्रशास्ताः' आप० ध० 2·1) 4 से 16 रात्रियों में सभी रात्रियाँ प्रशस्त नहीं हैं चौथी रात्रि में धारण हुआ पुत्र अल्पायु होता है और धनहीन होता है। पंचम रात्रि में धारण की गयी कन्या स्त्री सन्तति ही उत्पन्न करती है। छठी रात्रि का बच्चा मध्यम श्रेणी का होता है। सप्तम रात्रि की कन्या वन्ध्या होती है, आठवीं रात्रि का लड़का सम्पत्ति का स्वामी होता है। नवीं रात्रि की कन्या शुभ स्त्री होती है, दसवीं रात्रि का पुत्र बुद्धिमान होता है, ग्यारहवीं रात्रि की कन्या धार्मिक होती है और 12वीं रात्रि का पुत्र सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होता है। 13वीं रात्रि की कन्या व्यभिचारिणी होती है। 14वीं रात्रि का पुत्र धार्मिक, कृतज्ञ, संयमी एवं दृढ़प्रतिज्ञ होता है। 15वीं रात्रि की स्त्री सन्तति बहुत पुत्रों की माँ एवं पतिव्रता होती है। 16वीं रात्रि का पुत्र विद्वान श्रेष्ठ, सत्यवादी होता है।[3]

गर्भाधान की रात्रि संख्या के अनुसार ही लिंग निश्चित माना जाता है। पुरुष संतति के लिये सम और स्त्री सन्तति के लिये विषम रात्रि चुनी गयी है। मास की कुछ रात्रियाँ गर्भाधान के लिये वर्जित थीं। 8वीं, 14वीं, 15वीं, 30वीं और सम्पूर्ण पर्व विशेषतया निषिद्ध हैं।[4]

(2) पुंसवन संस्कार

यह संस्कार गर्भधारण का निश्चय हो जाने के बाद सम्पन्न होता है। पुंसवन का अभिप्राय सामान्यतः उस कर्म से है, जिसके अनुष्ठान से पुंन्पुमान (पुरुष) सन्तति का जन्म हो।[5] इस संस्कार में पुरुष सन्तति के ही लिये सर्वथा प्रार्थना इसलिये संभवतः की जाती है कि युद्ध में पुरुषों की महती आवश्यकता पड़ती है। जिसके लिये माता पुरुष सन्तति की अधिक कामना करती है।

वैदिक काल में यद्यपि इस संस्कार का विशेष स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी इस प्रकार उल्लेख मिलता है कि पति अपनी पत्नी के समीप जाता है और प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार धनुष पर बाण का सन्धान किया जाता है, उसी प्रकार तेरी योनि (गर्भाशय) में पुत्र को जन्म देने वाले गर्भ (पुमानगर्भः) का आधान हो।[6]

1. याज्ञ० स्मृ० 1.79 मनु० 3.2
2. 'उपेयान्प्रध्यशत्रान्ते'।
3. व्यास वी० मि० सं० भाग 1 उद्धृत।
4. पर्वं वर्ज व्रजे च्चेनां तद व्रतो रात्रिमाम्यया (मनु० 3.45)।
5. पुमान प्रसूयते येन।
6. 1.4.8-9 (अर्थ० वे०)।

पुनः एक स्थल में ऐसा ही चित्रण आया है कि पुरुष अपनी स्त्री से कहता है कि दस मास व्यतीत होने पर तेरे गर्भ से वीर पुत्र का जन्म हो। तू पुरुष को, पुत्र को जन्म दे, उसके पश्चात् पुनः पुंसन्तति का प्रसव हो। तू पुत्रों की माता बन ।[1] इत्यादि उल्लेख यद्यपि कई स्थल पर आया है किन्तु इस संस्कार का विधिवत स्पष्ट चित्रण नहीं मिलता है।

गृह्यसूत्रों के समय पुंसवन संस्कार स्पष्ट हो जाता है। यह संस्कार गर्भ धारण के पश्चात् तीसरे और चौथे मास में अथवा इसके बाद भी सम्पन्न होता है। जब चन्द्र किसी पुरुष नक्षत्र विशेषतः पुष्य में संक्रमण करता है। उस समय यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। गर्भिणी स्त्री को उस दिन उपवास करना पड़ता है। स्नान के बाद वह नूतन वस्त्रों से अलंकृत होती है। इसके उपरान्त रात्रि के समय वट-वृक्ष की छाल को कूटकर उसका रस निकालकर स्त्री के नाक में दाहिनी रन्ध्र में 'हिरण्य गर्भ' आदि शब्दों से आरम्भ होने वाली ऋचाओं को पढ़ते हुए वह रस छोड़ा जाता है। (ए) कुछ गृहसूत्रों में यह भी कहा गया है कि केवल वट वृक्ष की छाल ही नहीं अपितु उसके साथ कुश कण्टक आदि भी कूटे जाते थे। इसके साथ ही साथ एक बात का और उद्धरण मिलता है कि यदि पुरुष यह चाहता है कि उसकी स्त्री से वीर्यवान पुत्र उत्पन्न हो तो वह स्त्री के अंक में एक जलपूर्ण जलपात्र रख देता था और उसके उदर का स्पर्श करता हुआ 'सुपर्णोऽसि' आदि मंत्रों को पढ़ता है। इसके बाद परवर्ती धर्म सूत्रों और स्मृतियों में भी वही पूर्ववर्ती विधि विधान नियमित रहा। केवल मातृपूजा एवं कुछ श्राद्ध का उल्लेख और मिलता है।

उचित समय

स्मृतियों में इस पुंसवन संस्कार के समय का भी निर्देश किया गया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भाशय में गर्भ के गतिमान होने के पूर्व यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए।[2] शंख भी इसी मत का समर्थन 2.1 में करते हैं। परन्तु वृहस्पति इस मत के विषय में कहते हैं कि गर्भ के संचालित होने के पश्चात् ही इस संस्कार को निष्पन्न करना चाहिए।[3] जातुकर्ण्य और शौनिक का कथन है कि गर्भ धारण के स्पष्टीकरण हो जाने पर तीसरे महीने यह संस्कार करना समुचित होता है। संस्कार के काल निर्णय में बहुत कुछ पारिवारिक परम्परा भी सहायक है। इस काल निर्णय के सम्बन्ध में वृहस्पति इस प्रकार की व्यवस्था करते हैं—प्रथम गर्भ में यह संस्कार तीसरे मास में करना चाहिए। किन्तु उस स्त्री के विषय में जो इसके पूर्व भी सन्तति का जनन कर चुकी है यह कृत्य गर्भ के चौथे, छठे, अथवा आठवें मास भी किया जा सकता है।[4]

---

1. आ ते योनि गर्भ एतु पुमान वाण इवेषुधिम।
   आवीरोऽत्र जायताम् पुत्रस्ते दशमासस्य ।। अथर्व०
2. याज्ञं स्मृ० 1.11।
3. वी० मि० भा० 1, पृ० 166 पर उद्धृत।
4. वी० मि० सं० भा० 1, पृ० 168 पर उद्धृत।

यह व्यवस्था संभवतः इसलिये की गयी होगी क्योंकि परवर्ती गर्भों की अपेक्षा पूर्ववर्ती गर्भों में गर्भाधान के चिह्न पहले ही मालूम पड़ने लगते हैं।

इस प्रकार जब हम विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्कार बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी वैज्ञानिकता भी स्पष्ट है। एक स्थान पर सुश्रुत में और कहा गया है कि पुत्र की प्राप्ति के लिये सुलक्ष्मण, वट्टशुंग, सहदेवी तथा विश्वदेवी इनमें से किसी भी एक औषधि को यदि दूध में मिलाकर गर्भिणी स्त्री के नासारन्ध्र में डालें तो प्रायशः पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है और वह वीर्यवान होता है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार में प्रयुक्त पति के द्वारा स्त्री के अंक में पूर्ण जलपात्र के रखने का विधान भी मनोवैज्ञानिक है। जल से पूर्ण पात्र भावी शिशु में जीवन तथा उत्साह के आविर्भाव का सूचक है। पति द्वारा गर्भाशय स्पर्श का तात्पर्य माता द्वारा गर्भ की रक्षा के विषय में सावधानी का संकेत करता है। सुपर्णोऽसि आदि मंत्रों के द्वारा सुन्दर तथा स्वस्थ शिशु के जन्म की कामना व्यक्त की जाती है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार

मनु के अनुसार संस्कारों के क्रम में सीमन्तोन्नयन तीसरा संस्कार है। इसका नामकरण संभवतः गर्भिणी स्त्री के केशों जिनको सीमन्त भी कहते हैं उनको उन्नयन अर्थात् ऊपर उठाने के कारण इसको सीमन्तोन्नयन कहते हैं।

जन समुदाय में यह धारणा प्रचलित थी कि गर्भिणी स्त्री को अबमंगलकारिणी शक्तियाँ ग्रसित करती हैं। फलतः उन दुष्ट शक्तियों से सुरक्षा के लिये गर्भिणी के लिये इस संस्कार का प्रयोजन प्रतिफलित हुआ। इस विश्वास का उल्लेख आवश्वलायन स्मृति में स्पष्ट उल्लेखित है। वहाँ कहा गया है कि 'रुधिरयान में तत्पर कतिपय दुष्ट (सुदुर्भग) राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिये आक्रमण करती हैं। अतः पति को उनसे गर्भिणी की रक्षा के लिये श्री का आह्वान करना चाहिए। इसी उद्देश्य से सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधान किया गया।[1]

पुनः इस संस्कार का धार्मिक प्रयोजन माता के ऐश्वर्य एवं अनुत्पन्न शिशु के दीर्घायुष्य की उपलब्धि थी। इस अवसर पर प्रयुक्त ऋचाओं से स्पष्ट हो जाता है कि इस संस्कार के प्रचलन में हिन्दुओं का मनोविज्ञान भी सहायक है। क्योंकि देखें गर्भ के पांचवें मास में गर्भस्थ शिशु का मानसिक विकास प्रारम्भ हो जाता है अतः उसके इस कार्य में माता को बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। जिससे गर्भ को किसी प्रकार का आघात न पहुँच सके। इस अवसर पर गर्भिणी स्त्री को बहुत ही प्रसन्न रखना चाहिए। एक और बहुत ही विलक्षण एवं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक उल्लेख है कि पति को अपने हाथों से गर्भिणी के केशों का शृंगार (संस्कार) करना चाहिए।[2] क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक धारणा है कि पति पत्नी का दूसरा हृदय होता है। यदि वह उसके मंगल

---

1. वी० मि० स० भा० 1 पृ० 172।
2, वां गृ० सूत्र 1.10.7।

की कामना करता है और उसके लिये क्रियाशील दृष्टिगोचर होता है तो वह स्वभावतः बहुत ही सुखी एवं प्रसन्न होती है।

इस संस्कार का एक मात्र प्राक सूत्र उल्लेख मंत्र ब्राह्मण सामवेद में प्राप्त होता है। वहाँ एक स्थल पर कहा गया कि जिस प्रकार प्रजापति महान ऐश्वर्य के लिये (सौभागाय) अदिति की सीमा निर्धारित करता है उसी प्रकार मैं सन्तति के दीर्घायुष्य के लिये इनके केशों को विभक्त करता या संवारता (सीमाननयामि) हूँ।[1]

इस संस्कार के काल के विषय में भी गृह्य सूत्रों में यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। गृह्य सूत्र गर्भ के चतुर्थ अथवा पंचम मास को इस संस्कार के उपयुक्त बतलाते हैं।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति ने इसके लिये छठें अथवा आठवें महीने को उपयुक्त बतलाया है। कुछ विद्वान इस संस्कार के प्रति और अधिक उदारता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् भी माता की गोद में रखकर कर देना चाहिए।[3] यह संस्कार भी किसी पुरुष नक्षत्र में मातृ पूजा, नान्दि श्राद्ध तथा प्रजापात्य आहुति आदि कृत्यों के साथ सम्पन्न होता है। इस समय पत्नी अग्नि के पश्चिम में एक कोमल आसन पर आसीन हो जाती है और पति उदुम्बर के समसंख्यक कच्चे फलों के गुच्छों, दर्भ अथवा कुश के तीन गुच्छों, तीन श्वेत चिह्न वाले साही के कांटे, वीरव्रत काष्ठ की यष्टि तथा पूर्ण व्यवस्था के साथ भूर्भुवः स्वः आदि मंत्रों का उच्चारण करता हुआ पत्नी के सीमन्तों को ऊपर की ओर संवारता है।

याज्ञवल्क्य ने एक स्थल पर कहा है कि इस संस्कार में पति को गर्भिणी की इच्छाओं की पूर्ति का पूर्ण प्रयास करना चाहिए अन्यथा यदि उसको कुछ मानसिक वेदना हुई तो उसके गर्भ के गिर जाने की सम्भावना भी होती है।[4]

इस प्रकार इस संस्कार का वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों अर्थ सिद्ध होता है।

जात कर्म संस्कार

यद्यपि इस संस्कार का उल्लेख वैदिक साहित्य में स्पष्ट नहीं उपलब्ध होता है परन्तु परवर्ती साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। गृह्य सूत्रों में इस संस्कार का विशेष वर्णन मिलता है। यह संस्कार एक धार्मिक संस्कार है।

इस संस्कार का महत्व उस समय होता है जब माता आसन्नप्रसवा होती है। उस समय बहुत ही सावधानी की आवश्यकता होती है।[5] इस संस्कार में सर्व प्रथम प्रसूति गृह का चयन आता है। वशिष्ठ का कथन है कि यह प्रसूति गृह नैऋत्य दिशा में

1. सामवेद मंत्र ब्राह्मण 1.5.2।
2. वां० गृ० सू० 1.10.1 वा० गृ० सू० 1.14 अष० गं० सू० 14.1।
3. गार्ग्य वी० मिं० सं० भी 1 पृ० 177 पर उद्धृत।
4. याज्ञ० स्मृ० 3.89
5. रत्नाकर वी० मि० स० भा० 1 पृ० 184 पर उद्धृत

होना चाहिए ।[1] विष्णु धर्मोत्तर के एक उद्धरण के अनुसार यह भवन वास्तुविद्या विशारदों के द्वारा समतल भूमि पर करना चाहिए। उसका द्वार पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए। इसको सुदृढ़ एवं रम्य होना चाहिए ।[2]

शंख आदि का कथन है कि वाद्यों का मंगल ध्वनि के साथ अनेक देवता सम्बन्धी मंत्रों के उच्चारण के साथ, ब्राह्मणों तथा गायों की पूजा करने के पश्चात् भावी माता को प्रसवगृह में प्रवेश करना चाहिए। प्रसविनी के साथ अन्य हँसमुख एवं प्रसव की वेदना का अनुभव रखने वाली विश्वस्त अन्य स्त्रियों को भी इसके साथ प्रवेश करना चाहिए। प्रसव की वेदना के बढ़ जाने पर गर्भिणी को पीठ के बल लिटा देना चाहिए।

प्रसूति गृह में अग्नि, जल, यष्टि, दीपक, शस्त्र, सरसों आदि वस्तुएँ रखी जाती थीं। इसका और ही मधुर वर्णन वाणभट्ट की कादम्बरी में प्राप्त होता है जो बड़ा ही वैज्ञानिक है।

स्मृति संग्रह में एक स्थल पर कहा गया है कि जात कर्म संस्कार नाभिबन्धन के पूर्व सम्पन्न होता है ।[3] इस जात कर्म संस्कार में पिता कुछ ऐसे कृत्यों को करता है जिसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु के मस्तिष्क के ऊपर पड़ता है। सर्व प्रथम पिता मेधाजनन करता है। इसमें वह एक सुवर्ण की शलाका से शिशु को मधु और घृत चटाता है। इसके साथ वह 'भूर्भुवः स्वः' का उच्चारण करता है। गोमिल गृह्य सूत्र 12 के अनुसार 'तू वेद है' इस वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु का नाम रखा जाता है।

जात कर्म संस्कार का दूसरा कृत्य है। आयुष्य शिशु की नाभि अथवा कर्ण के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता है 'अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षों में दीर्घ जीवी है। मैं उस दीर्घ आयु से तुमको दीर्घ आयु करता हूँ। इत्यादि अनेक दीर्घायु होने के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं और शिशु के दीर्घायु होने की कामना की जाती है ।[4]

इसके बाद पिता शिशु के बल सम्वर्द्धन के लिए प्रार्थना करता है। वह कहता है तू पत्थर हो, तू परशु हो, तू अमृत, स्वर्ण बन। तू यथार्थ में पुत्र नाम से आत्मा है तू सौ शरद् ऋतु पर्यन्त जीवित रह ।[5] इसके पश्चात् कुल परम्परा को अलंकृत करने के लिए पुत्र को जन्म देने वाली माता की प्रार्थना की जाती है। कहा जाता है तू इड़ा

---

1. नैऋत्या सूतिका गृहम् ।
2. विष्णु धर्मोत्तर ।
3. प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
 मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ।
 (मनु॰ 2.29)
4. पा॰ गृ॰ सू॰ 1.16.6
5. अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यममृत भव

हैं, तू मित्रावरुण की पुत्री है, तुझ वीर माता ने वीर पुत्र को जन्म दिया। जिसने हम लोगों को वीर पुत्र प्रदान किया, वह तू वीरवती हो।[1]

पुनः नाभि की गुण्डी पृथक् की जाती है, शिशु को स्नान एवं माता का स्तन पान कराया जाता है। इसके बाद पिता एक जलपूर्ण पात्र को माता के समीप में रखता है और वरुण से गर्भस्थ पुत्र और माता की रक्षा के लिए प्रर्थना करता है। सूतिका गृह के द्वार पर स्थायी रूप से अग्नि स्थापित की जाती है जिसमें प्रतिदिन पिता धान की भूसी और सरसों की आहुति सायंकाल और प्रातः काल हवन करता है। इसके अन्दर भी प्रसूति में विद्यमान शिशु और उसके माता की अन्य दुष्ट शक्तियों से रक्षा की भावना निहित है।

नामकरण संस्कार

नामकरण संस्कार मानव की सामाजिक चेतना के विकास का द्योतक है। वृहस्पति कवित्व पूर्ण अतिशयोक्ति के माध्यम से, नामकरण की वांच्छनीयता का उल्लेख करते हैं। नाम अखिल व्यवहार का हेतु है, अतः नामकरण अत्यन्त प्रशास्त है।[2] नामकरण संस्कार एक मनोवैज्ञानिक संस्कार है। शिशु का नामकरण उस प्रकार से होना चाहिए जिसमें उसकी सौम्यता आदि वाह्य एवं आन्तरिक प्रवृत्तियाँ अन्तर्हित हों। नामन् शब्द ऋग्वेद में भी आया है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य भी नामकरण की महत्ता से पूर्ण परिचित थे।

गृह्य सूत्रों के सामान्य नियम के अनुसार नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के दशवें अथवा बारहवें दिन सम्पन्न होता है।[3] ग़ोमिल गृह्य सूत्र के परिशिष्ट में एक अन्य आचार्य का कथन है कि नामकरण दशवें, बारहवें, सौवें दिन अथवा प्रथम वर्ष के समाप्त होने पर करना चाहिए। वृहस्पति के अनुसार शिशु का नामकरण दशवें, बारहवें, तेरहवें, सोलहवें, उन्नीसवें, अथवा बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए।[4]

जनना शौच के समाप्त हो जाने पर सम्पूर्ण घर प्रक्षालित किया जाता है। साथ ही शिशु एवं माता को स्नान कराया जाता है।

---

1. इड़ासि मंमारूणी वीरे वीरमजीजनथः।
   सात्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति ॥
2. वृहस्पति वी० मि० सं० भा 1 पृ० 241 पर उद्धृत
3. शां० गृ० सू० 1.24.4 पा० गृ० सू. 1.15.4,
   पा० गृ० सू० 1। 17। गो० गृ० सू० 2.7.15,
   खा० गृ० सूत्र 2.2.30 हा० गृ० सू० 2.4.10
4. द्वादशा हे दशा हे वा जन्मतोऽपि त्रयोदशे।
   षोडशैकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात् ॥
   बी० मि० सं० भा० 1, पृ० 234 पर उद्धृत

श्वेत वस्त्रों से अलंकृत माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढककर तथा उसके शरीर को जल से आर्द्र कर पिता के हाथ में समर्पित कर देती है ।[1]

इसके बाद प्रजापति तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवता, अग्नि और सोम को आहुतियाँ दी जाती हैं ।[2] पिता शिशु के श्वास प्रतिश्वासों का स्पर्श करता है जिसका उद्देश्य संभवतः शिशु की चेतना का उद्‌बोधन तथा उसका ध्यान संस्कार की ओर आकृष्ट करना है । इसके बाद पिता शिशु के कान में उसका नामकरण करता है ।

पारस्कर गृह्य सूत्र में शिशु के नाम के वर्णों की संख्या का भी विचार मिलता है । इसके अनुसार नाम दो अथवा चार अक्षरों का होना चाहिए । उसे व्यंजन से आरम्भ होना चाहिए । उसमें अर्धस्वर होना चाहिए । नाम का अन्त दीर्घस्वर अथवा विसर्ग के साथ होना चाहिए । वशिष्ठ धर्म सूत्र दो अथवा चार अक्षरों तक सीमित कर देते हैं । तथा सकारान्त और रेकान्त नामों का वर्जन करते हैं ।[3] आश्वलायन गृह्य सूत्र में कहा गया है कि प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति के इच्छुक व्यक्ति को द्वयक्षर तथा ब्रह्मवर्चस काम व्यक्ति को चतुरक्षर नाम रखना चाहिए ।[4]

बालिका का नाम अक्षरों की विषम संख्या वाला तथा आकारान्त होना चाहिए । उसमें तद्धित् का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।[5] बैजनाथ के अनुसार स्त्री का नाम त्र्यक्षर एवं ईकारान्त होना चाहिए ।[6] मनु का कथन है कि स्त्रियों का नाम ऐसा होना चाहिए जो उच्चारण में सुखकर और सरल, सुनने में अक्रूर, विस्पष्टार्थ तथा मनोहर, मंगल सूचक, दीर्घवर्णान्त और आशीर्वाद युक्त होना चाहिए ।[7]

व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी उसके नाम विधान में निर्णायक है । मनु के शब्दों में 'ब्राह्मण का नाम मंगल सूचक, क्षत्रिय का बल सूचक, वैश्य का धन सूचक तथा शूद्र का नाम कुत्सासूचक होना चाहिए ।[8] नामकरण के विषय में कुछ और तत्व हैं जिनके आधार पर भी नामकरण होता है । कभी तो नक्षत्रों के नाम पर जिसमें शिशु ने जन्म लिया है । कभी मास के नाम पर जिसमें वह पैदा हुआ है । इसी प्रकार

1. गो० गृ० सू० 2।7।15।

टिप्पणी—मनु का कथन है कि जन्म से दशवें या बारहवें दिन शिशु का नामकरण संस्कार कर देना चाहिए । यदि इस समय हो सके तो ज्योतिष शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट तिथि को यह संस्कार कर देना चाहिए ।

मनु० 2।30।

2. गो० गृ० सू० 2.7.15
3. वं० ध० सू० 4
4. आश्व० गृ० सू० 1.15.5
5. वी० मि० सं० भा० 1 पृ० 243 पर उद्धृत
6. पा० गृ० सू० 1.17.3 ।
7. मनु० 2.33
8. मनु० 2.31

कुल देवता के नाम पर भी शिशु का नाम रखा जाता है। इस प्रकार नामकरण संस्कार का इतिहास एक विकसित परम्परा का द्योतक है।

निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण अर्थात् शिशु को विधि विधान पूर्वक घर से प्रथम बार बाहर लाने की प्रथा भले ही अत्यन्त प्राचीन हो परन्तु ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु गृह्य सूत्रों में इसका उल्लेख स्पष्ट मिलता है। यह संस्कार शिशु के जन्म के बारहवें दिन से लेकर चतुर्थ मास तक कभी भी हो सकता हैं। इसके विषय में अनेक मत हैं। (मनु॰ 2.134) भविष्य पुराण तथा बृहस्पति स्मृति का कहना है कि यह संस्कार जन्म के बारहवें दिन सम्पन्न होना चाहिए जो कि इस पर्याप्त स्थलों में विशेष कर उत्तर भारत में तो प्रचलित है[1] किन्तु गृह्य सूत्रों एवं स्मृतियों का कथन है कि शिशु के जन्म के चौथे मास में यह संस्कार होना चाहिए। यम ने तृतोय और चतुर्थ मास में यह संस्कार होना चाहिए ऐसा माना है। चतुर्थ मास में चन्द्र दर्शन एवं तृतीय मास में सूर्य दर्शन करना चाहिए।[2]

यह संस्कार माता पिता के द्वारा सम्पन्न होता है। इसमें मामा की भी अपेक्षा होती है। क्योंकि अपनी बहन के शिशु के साथ मामा का हार्दिक स्नेह ही इस विधान का आधार है।[3]

विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार धात्री के द्वारा शिशु को बाहर लाया जाने का विधान है।[4]

एक निश्चित दिन माता बरामदे या आंगन के ऐसे वर्गाकार भाग को जहाँ से सूर्य दिखलाई पड़ता है, गोबर और मिट्टी से लेपन करती है। उस पर स्वस्तिक का चिन्ह बनाती है तथा धान्यकणों को विकीर्ण करती है सूत्र काल में पिता शिशु को सूर्य का दर्शन कराता है। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में धीरे-धीरे यह संस्कार भी विस्तृत रूप ग्रहण करता गया। आश्वलायन गृह्य सूत्र और विष्णु धर्मोत्तर में कहा गया है कि भली-भाँति अलंकृत शिशु को कुल देवता के समक्ष लाया जाता है। वाद्य संगीत के साथ देवता की पूजा की जाती है। साथ ही साथ आठ लोकपालों, सूर्य चन्द्र और आकाश की भी स्मृति की जाती है। इसके उपरान्त ब्राह्मण भोजन का अयोजन होता है। पुनः शंखध्वनि के साथ शिशु को बाहर लाया जाता है। शिशु के निष्क्रमण के समय पिता निम्नलिखित श्लोक को पढ़ता है।

---

1. वी॰ मि॰ सू॰ भा॰ 2, पृ॰ 250 पर उद्धृत।
2. यम वी॰ मि॰ स॰ भा॰ 2, पृ॰ 250 पर उद्धृत।
3. उपनिष्क्रमणं शस्ता मातुलां बाह्योच्छिशुम्

   मुहूर्त संग्रह वी॰ मी॰ स॰ भा॰ 1

4. ततस्त्वलंकृता धात्री बालमादाय पूजितम्।

   बीर्हनिष्कारनयेद गेहत शा पुण्याहनिःस्तनैः॥

   विष्णुधर्मोत्तर।

'अप्रमतं प्रमत्तं वा दिवा रात्रावथापि वा ।
रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः । (विष्णु धर्मोत्तर)

अर्थात् यह शिशु अप्रमत्त हो या प्रमत्त दिन हो अथवा रात्रि इन्द्र के नेतृत्व में (शक्रपुरोगमाः) सब देव इसकी रक्षा करें । इसके बाद शिशु को किसी देवालय में ले जाया जाता है फिर वहाँधूप दीप, माला आदि के द्वारा देवार्चन किया जाता है । शिशु देवता को प्रणाम करता और ब्राह्मणगण उसको आशीर्वाद देते हैं । इसके बाद शिशु को मन्दिर के बाहर लाया जाता है । पुनः शिशु को मामा की गोद में दिया जाता है ।

वृहस्पति की विचारधारा में कुछ भिन्नता है । उनका कथन है कि शिशु बन्धु-बान्धवों के मध्य मामा के द्वारा बाहर लाया जाता है । इसके बाद गोबर के द्वारा लिपे स्थान पर पिता के द्वारा 'यम्बकं यज्ञामहे' का जप होता है । पुनः शिव और गणेश का पूजन होता है ।[1] इस प्रकार सम्पूर्ण संस्कार शिशु के शारीरिक विकास के के लिये होता है ।

अन्न प्राशन संस्कार

शिशु को अन्न खिलाना उसके जीवन का दूसरा सोपान है । सुश्रुत का कथन है कि छः मास के बाद शिशु को अन्न खिलाना उसके विकसित स्वास्थ्य के लिये आवश्यक होता है ।[2] बाद में यह प्रथा धार्मिक रूप धारण कर लेती है । अन्न प्राशन संस्कार का श्री गणेश सम्भवतः सूत्र काल में हुआ । सूत्रकाल में इस संस्कार का विधिवत निरूपण मिलता है ।

गृह्य सूत्रों के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के छठें महीने में होना चाहिए ।[3] मनु और याज्ञवल्क्य भी यही समय अन्न प्राशन के लिये उपयुक्त समझते हैं । लांगाक्षि इस संस्कार का समय दातों के निकल आने पर निर्धारित करते हैं । क्योंकि दाँत अन्न पाचन की शक्ति का द्योतक है । अतः यदि शिशु कमजोर होता है तो उसके लिये और बाद में भी यह संस्कार सम्पन्न हो सकता है । अतः यह संस्कार आठवें, नवें, दशवें या बारहवें मास में हो सकता है । अगर शिशु अधिक कमजोर होता है तो यह संस्कार और बाद में किया जाता है । इस प्रकार यह संस्कार शिशु की शारीरिक शक्ति पर आधारित है ।[4]

पारस्कर गृह्य सूत्र (1.14.4) में कहा गया है कि शिशु को अनेक तत्वों का मिश्रित भोजन कराना चाहिए । कतिपय अन्य धर्मशास्त्र शिशु के लिये उद्देश्य के अनुसार भोजन का संकेत करते हैं । उनका कथन है कि दधि, दूध और मधु का उपयोग शिशु के लिये विशेष आवश्यक है । इसके अतिरिक्त यदि पिता शिशु में वाणी का

1. वी० मि० स० भा० पृ० 254 पर उद्धृत ।
2. सुश्रुत शारीरस्थान (10.64)
3. आ० गृ० सू० 1.16, पा० गृ० सू० 1.19· 2, शां गृ० सू० 127 ।
4. (सरद नारद)

प्रवाह चाहता है तो उसको भारद्वाज पक्षी का मांस भी खिलाना चाहिए। पालन-पोषण की प्रचुरता के लिये कपिञ्जल पक्षी और घी को खिलाना चाहिए। कोमलता के लिये मत्स्य, दीर्घ जीवन के लिये वृकशा पक्षी का मांस, ओज और तीक्ष्ण बुद्धि के लिये घी भात, तेज के लिये मटि पक्षी और तित्तिर का मांस, दृढ़ इन्द्रियों के लिये दही भात खिलाना चाहिए। यदि वह शिशु में सभी गुण चाहता है तो सभी पदार्थों का समयानुकूल प्रयोग कराता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकाल वैदिक काल की मांस भक्षण प्रणाली से पूर्ण परिचित है। वह घोर अहिंसावादी नहीं है। यदि मस्तिष्क का विकास एवं शारीरिक सम्वर्द्धन होता है तो मांस भक्षण को उपयोगी समझते हैं।

मार्कण्डेय पुराण में शिशु को मधु और घी तथा खीर खिलाने का विधान किया गया है।[2]

इस प्रकार यह संस्कार माता और शिशु दोनों के कल्याण की कामना से परिपूर्ण है। नियमित समय पर माता का स्तनपान कराना बन्द कर देना चाहिए और शिशु को उचित भोजन देना चाहिए। इस प्रकार माता की शक्ति का क्षय भी नहीं होगा और शिशु का समुचित विकास भी होगा।

चूड़ाकरण संस्कार

इस संस्कार का सम्बन्ध शिशु के केश एवं नाखून के काटने से है। धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिये दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का प्रयोजन है।[3]

सुश्रुत के अनुसार केश, नख तथा रोम अथवा केशों के अपमार्जन अथवा छेदन से हर्षलाघव, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप का उपशमन होता है।[4]

चरक का कथन है कि केश, श्मश्रु, तथा नखों के काटने तथा प्रसाधन से पुष्टि, बल, आयुष्य, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चूड़ाकरण संस्कार के मूल में स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य की भावना ही प्रधान है।

गृह्यसूत्रों के अनुसार चूड़ाकरण संस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व होता है। मनु का कथन है कि 'वेदों' के नियमानुसार धर्म पूर्वक समहृत द्विजातियों का संस्कार प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में करना चाहिए। बाद में परवर्ती ग्रन्थों में यह समय 5 से 7 वर्ष तक भी माना जाने लगा।[5]

---

1. शा॰ गृ॰ सू॰ 1.27, आप॰ गृ॰ 1.16.1, आश्व॰ गृ॰ सू॰ 1.10, हा॰ गृ॰ सू॰ 2.5।
2. वी॰ मि॰ सं॰ भा 1. पृ॰ 275 पर उद्धृत।
3. आ॰ गृ॰ सू॰ 1.17.12।
4. चिकिरमास्थान 24.72
5. आश्व॰ गृ॰ वी॰ मि॰ सं॰ भा॰ 1 296 पर उद्धृत

धीरे-धीरे यह संस्कार औपचारिक हो गया। यह संस्कार दिन के समय सम्पन्न होता है। (राज मार्तण्ड एवं सार संग्रह के अनुसार चैत्र, पौष एवं ज्येष्ठ तथा मार्गशीर्ष मास इस संस्कार के लिये वर्जित हैं। वृहस्पति का कथन है कि शिशु की माता के गर्भिणी होने पर उसका क्षौर कर्म नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त माता के रजस्वला होने पर विवाह, उपनयन तथा चूड़ाकरण संस्कार करने से नारी विधवा हो जाती है, ब्रह्मचारी जड़ हो जाता है तथा शिशु की मृत्यु हो जाती है।[1]

इस संस्कार के लिये एक दिन निश्चित कर लिया जाता है। आरम्भ में संकल्प, गणेश की पूजा, मंगल, श्राद्ध आदि प्रारम्भिक कृत्य होते हैं। फिर ब्राह्मण भोजन होता है। इसके बाद माता शिशु को अपनी गोद में लेकर स्नान कराती है। इसके बाद उस शिशु को लेकर वह यज्ञीय अग्नि की पश्चिम ओर बैठ जाती है। उस शिशु को पकड़ते हुए पिता अग्नि में आहुतियाँ देता है।

इस संस्कार में प्रत्येक स्थान पर आयुष्य की कामना की गयी है। अब प्रश्न उठता है कि क्या इसके अन्दर कुछ तत्व प्राप्त होता है। इस प्रश्न के समाधान में शुश्रुत का कथन है कि मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर शिक्षा तथा सन्धि का सन्निपात है। वहीं शेमावर्त के अधिपति हैं। इस अंग को किसी भी प्रकार का आघात लगने पर तत्काल ही मृत्यु हो जाती है।[2] अतः इस महत्वपूर्ण अंग की सुरक्षा आवश्यक मानी जाती है। तथा उसी अंग पर शिखा रखने से इस प्रयोजन की पूर्ति हो जाती है।

इसी मुख्य स्थान की रक्षा के लिये शिखा का रखना अपेक्षित है जिसके द्वारा बुद्धि का विकास एवं मानसिक वृद्धि भी होती है।

उपनयन संस्कार

उपनयन संस्कार भारतीय संस्कार की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वैदिक काल में छात्र को ब्रह्मचारी और अध्यापक को आचार्य कहते थे। ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार उसका द्वितीय जन्म माना जाता है। आचार्य उपनयन कराता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है। अर्थात् वह विद्यार्थी को पढ़ने के योग्य बनाने का परीक्षण करता है जिसको देवतागण भी देखने आते हैं।

ब्राह्मण काल में उपनयन ने पूर्णतः कर्मकाण्ड का रूप धारण कर लिया। इसमें ब्रह्मचारी स्वयं आचार्य के समीप जाता है और स्वतः छात्र होने की इच्छा व्यक्त करता था।

---

1. वृद्ध गार्ग्य वी० मि० सं० भा०1 पृ० 212
2. मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् शिरासन्धिसन्नियाते।
   शेमावर्तोधिपतिस्तमापि सद्यो मारणम्॥
   शरीर स्थान 6.83
3. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः
   तं रात्रीरिस्तस् उदेर विभर्ति ते जातं दृष्टुमभिसंयन्तियेति देवाः।
   अ० वें० 11.5.3

उपनिषद काल में चार आश्रमों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसमें ब्रह्मचर्य आश्रम को एक संस्था का रूप मिल गया। यह संस्कार सभी विद्यार्थियों का नहीं होता था। प्रतिभासम्पन्न, सर्व गुणालंकृत विनम्र छात्र ही इस संस्कार के अधिकारी होते थे।[1] अथर्व वेद में उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में किया गया है।[2]

मनु का कथन है कि 'द्वितीय जन्म में जिसका प्रतीक मूँज से बनी मेखला का धारण करना है सावित्री ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता हैं।[3] बाद में उपनयन शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा छात्र को आचार्य, के निकट ले जाने के अर्थ में प्रयोग होने लगा।[4]

इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन शिक्षा की प्राप्ति है। आपस्तम्ब और भारद्वाज विद्या की प्राप्ति को उपनयन संस्कार का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। उनका कथन है कि उपनयन विद्याध्ययन के लिये इच्छुक व्यक्ति के, श्रुति के अनुसार विहित संस्कार को कहते हैं।[5] बाद में कर्मकाण्ड इसके प्रयोजन में समाविष्ट हो गया। विद्या गौड़ हो गयी।

इस संस्कार के लिये आयु का निर्धारण बहुत काल तक एक समस्या बनी रही। गृह्यसूत्रों एवं परवर्ती आचार्यों के अनुसार साधारण नियम यह है कि ब्राह्मण का उपनयन आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष एवं वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिए।[6] बौधायन गृह्य सूत्र में कहा गया है कि 8 और 16 वर्ष के बीच किसी समय ब्राह्मण का उपनयन संस्कार किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिये उपनयन संस्कार का आयु विधान कुछ अलग-अलग है। बौधायन के शब्दों में ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये सातवें वर्ष, दीर्घायुष्य के लिये आठवें वर्ष, ऐश्वर्य के लिये नवें वर्ष, भोजन के लिये दसवें वर्ष, पशुओं के लिये बारहवें वर्ष, शिल्प कौशल के लिये तेरहवें वर्ष, तेजस्विता के लिये चौदहवें वर्ष, बन्धु बान्धवों के लिये 15वें वर्ष और सभी गुणों की प्राप्ति के लिये 16वें वर्ष उपनयन करना चाहिए। मनु का कथन है कि ब्रह्मवर्चस की उपलब्धि के लिये इच्छुक ब्राह्मण का उपनयन पांचवें वर्ष, बल के लिये इच्छुक क्षत्रिय का आठवें वर्ष, और ऐश्वर्य के लिये इच्छुक वैश्य का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष करना चाहिए। परन्तु विशेष विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त विवेचन काल्पनिक है। वह वैज्ञानिकता से कोसों दूर है। बाद में जब यह संस्कार बौद्धिक न होकर

1. तै०उपनिषद।
2. अथर्व० 11.5.3
3. मनु० 2.170
4. भारुचि वि० मि० सं० भा पृ० 334
5. आप० ध० सू० 1
6. मनु० 2.36 याज्ञ० स्मृ० 1.11

शारीरिक हो गया उस समय इस संस्कार के लिये आयु की सीमा ब्राह्मण के लिये सोलह, क्षत्रिय के लिये बाईस, वैश्य के लिये चौबीस हो गयी।[1] इसके अनन्तर धीरे-धीरे इसके लिये आयु सीमा समाप्त हो गयी परन्तु इस संस्कार का होना परमावश्यक समझा जाने लगा। आरम्भ में उपनयन संस्कार का विधि-विधान बहुत साधारण था बाद में धीरे-धीरे जैसे ही वह कर्मकाण्ड का रूप धारण करता गया वह जटिल होता गया। यह संस्कार प्रायः उस समय होता है जब सूर्य उत्तरायण रहते हैं। परन्तु वैश्यों के लिये दक्षिणायन सूर्य भी विहित है। ब्राह्मण का उपनयन वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में, वैश्य का शरद ऋतु में तथा रथकार का उपनयन वर्षा ऋतु में होता है।[2] इस प्रकार ये विभिन्न ऋतुएं विभिन्न वर्णों के स्वभाव तथा व्यवसाय की प्रतीक हैं।

इसके बाद ज्योतिष विषयक मासों रचनाओं ने माघ से आषाढ़ पर्यन्त विभिन्न मासों के साथ विभिन्न गुणों को सम्बद्ध कर दिया। जिस बालक का उपनयन माघ में होता वह समृद्ध होता, जिसका उपनयन फागुन में सम्पन्न होता, वह बुद्धिमान होता है। चैत्र में उपनीत होने पर वेदों में निष्णात होता है, वैशाख में उपनयन करने से समस्त सुख-भोगों से सम्पन्न होता है, ज्येष्ठ में प्राज्ञ, तथा श्रेष्ठ और आषाढ़ में उपनयन संस्कार होने पर महान विजयी तथा विख्यात पण्डित होता है।[3] उपनयन संस्कार के लिये शुक्ल पक्ष उपयुक्त माना जाता है।

संस्कार सम्पन्न होने के पूर्व एक सुन्दर मण्डप का निर्माण किया जाता है। उपनयन की पूर्वरात्रि में बालक के शरीर में हरिद्रा का लेप किया जाता है और उसकी शिखा में एक चाँदी की अंगूठी बाँध दी जाती है। दूसरे दिन माता पिता मण्डप में बालक को स्नान कराते हैं। इसका मुण्डन होता है। इसके बाद बालक को कौपीन पहनने के लिये दिया जाता है। इसके उपरान्त ब्रह्मचारी आचार्य के पास जाता है और ब्रह्मचारी होने की इच्छा व्यक्त करता है।[4] यद्यपि अन्य स्मृतियों में ब्रह्मचारी के वस्त्र अनेक रंगों के बतलाये गये हैं। परन्तु मनु नेसर्व वै धारयेच्छुक्लं वासस्तत् परिधानकम्।' अर्थात् ब्रह्मचारी के वस्त्र का रंग श्वेत होना चाहिए। आदि के द्वारा श्वेत वस्त्र का संकेत किया है। यद्यपि इस समय तो सभी ब्रह्मचारियों को हरिद्रा में रंग कर वस्त्र दिये जाते हैं।

इसके पश्चात् आचार्य बालक की कटि में मूंज की मेखला बांध देता है। मेखला धारण करने के बाद ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र दिया जाता है। परन्तु पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपवीत धारण करने का प्रसंग नहीं मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि उत्तरीय ही इस उपवीत का पूर्वरूप है।

---

1. पा० गृ० सू० 2.5 36-38
2. बौ० गृ० सू० 11.5.6
3. राज मार्तण्ड वीं० मि० सं० भा० 1 पृ० 354 पर उद्धृत।
4. पा० गृ० सू० 2.2.9

उपवीत को ब्राह्मण कुमारी कातती है और ब्राह्मण द्वारा ग्रन्थि दी जाती है। यह उपवीत प्रतीकात्मकता से परिपूर्ण है। इसकी लम्बाई एक मनुष्य के चार अंगुलियों की चौड़ाई की 96 वें गुनी होती है जो उसकी ऊँचाई के बराबर है। चार अंगुलियाँ चार अवस्थाओं की प्रतिनिधि हैं। वे चार अवस्थाएँ हैं जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीया। उपवीत के प्रत्येक सूत्र के तीन धागे भी प्रतीकात्मक हैं। वे सत्व, रजस्, तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूत्र के दो ही भाग के ऊपर रहने का तात्पर्य है कि मनुष्य में सत्व गुण की प्रधानता रहे। इस प्रकार उसका आत्मिक कल्याण ही प्रधान है। तीन सूत्र उसको पितृ ऋण, ऋषि ऋण, तथा देव ऋण से मुक्त होने का संकेत करते हैं। ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत पहनाते समय आचार्य एक मंत्र का उच्चारण करता है जिसमें बालक के आयुष्य, बल, तथा तेज के लिए प्रार्थना की जाती है।[1]

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी को अजित दिया जाता है। पुनः ब्रह्मचारी दण्ड धारण करता है जो ब्रह्मचारी को विद्या के सुदीर्घ मार्ग का यात्री होना बताता है। इस दण्ड के भी अनेक प्रकार स्मृतियों और धर्म सूत्रों में बतलाये गये हैं। मनु का कथन है कि प्रमाणानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड केश तक, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाट तक और वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड नाक तक लम्बा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन ब्रह्मचारियों के दण्ड को सीधा, बिना कटा पिटा हुआ, देखने में सुन्दर लगने वाला होना चाहिए।[2]

इस प्रकार अनेक प्रकार के विधि विधानों के साथ यह संस्कार सम्पन्न होता है यद्यपि आज इस संस्कार का वह महत्व नहीं रह गया है फिर भी कर्म काण्ड के रूप में यह संस्कार आज भी सर्वत्र सम्पन्न होता है। यह संस्कार भारतीय शिक्षा विज्ञान का प्रमुख अंग है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के कलुषित एवं विषादपूर्ण विस्तार के समक्ष प्राचीन भारतीय पाठशालीय एवं चटशालीय पद्धति समाप्तप्राय हो गई जिसके साथ इस संस्कार का महत्व भी समाप्त होता जा रहा है परन्तु आज भी कुछ विद्वान शिक्षा में तत्वहीनता का आरोप करते हुए प्राचीन पद्धति की सराहना करते हैं और इस संस्कार के महत्व पर प्रकाश डालते हैं।

केशांत संस्कार

गृह्य सूत्रों के चूड़ाकरण के साथ केशान्त संस्कार का वर्णन पूर्णरूपेण प्राप्त होता है।[3] इस संस्कार का सम्बन्ध विद्यार्थी के शरीर तथा उसके व्यवहार से है। इस संस्कार को गोदान संस्कार भी कहते हैं। यह संस्कार 16 वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। यह यौवन के पदार्पण का सूचक है। इस संस्कार के प्रारम्भ में बालक के दाढ़ी

1. पा० गृ० सू० 2.2 सत्र 13
2. मनु० 2.46, 47
3. आ० गृ० सू० 1.18, पा० गृ० सू० 2.1.3, शो० गृ० सू० 1.28.18, गो० गृ० सू० 3.1 आप० गृ० सू० 12

एवं मूंछ आ जाते हैं जिनका निर्देश इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन है।[1] युवक के हृदय में यौवनपूर्ण प्रवृत्तियों के नियमन के लिए अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता अपेक्षित है। अतः ब्रह्मचारी को पुनः एक बार ब्रह्मचर्य के व्रतों को स्मरण कराया जाता है। दाढ़ी और मूंछ के क्षौर के बाद ब्रह्मचर्य का व्रत नये सिरे से लेना तथा एक वर्ष का कठोर संयम करना पड़ता है। बाद में केशान्त संस्कार ब्रह्मचर्य की समाप्ति का सूचक संस्कार समझा जाने लगा।

इस संस्कार में सारी क्रियायें वैसे ही होती हैं जैसे चौल संस्कार में होती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उसमें शिर के बालों का क्षौर होता है जबकि इस संस्कार में दाढ़ी और मूंछ का क्षौर होता है। इसके पश्तात् ब्रह्मचारी गुरु को एक गौ का दान करता है। संस्कार के अन्त में वह मौन व्रत का पालन और एक वर्ष पर्यन्त कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता है।

समावर्तन अथवा स्नान संस्कार

यह संस्कार ब्रह्मचर्य समाप्त होने पर किया जाता है। यह विद्यार्थी जीवन की समाप्ति एवं पूर्णता का सूचक संस्कार माना जाता है। समावर्तन शब्द का अर्थ होता है 'वेदाध्ययन के अनन्तर गुरुकुल से घर की ओर आना'।[2] इसको स्नान भी कहते है क्योंकि स्नान ही इस संस्कार का मुख्य अंग है। कुछ लोगों का कथन है कि विद्यार्थी जीवन के अन्त में किया जाने वाला सांस्कारिक स्नान विद्यार्थी के द्वारा विद्यासागर को पार करने का द्योतक है।[3]

मनु-स्मृति का कथन है कि विद्यार्थी को गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए उसके पश्चात् सवर्ण तथा लक्षणान्वित कन्या से विवाह करना चाहिए।[4] गुरु के द्वारा विद्यार्थी के प्रति किया हुआ उपकार अत्यन्त उच्च समझा जाता है। कोई भी उसका उचित मूल्य नहीं चुका सकता है। इसलिए यह नियम है कि यदि कोई विद्यार्थी कुछ भी गुरुदक्षिणा देने में असमर्थ होता है तो वह औपचारिक रूप से गुरु के समीप जाकर नम्रता पूर्वक चरण स्पर्श कर अनुमति प्राप्त कर लेता है। ऐसे अवसर पर गुरु प्रायः कहा करते हैं 'वत्स मुझे धन की आवश्यकता नहीं है मैं तुम्हारी सेवा एवं गुण से ही प्रसन्न हूँ।'[5] इस प्रकार हम प्राचीन भारतीय गुरुओं के त्याग के प्रत्यक्ष स्वरूप का दर्शन करते हैं जिससे श्रद्धावनत हो जाना स्वाभाविक हो जाता है।

---

1. मनु० 2.65
2. तम समावर्तन नाम वेदाध्ययनानन्तरं गुरुकुलात्। स्वगृहागमनम्। वी० मि० स० भा० 1 पृ० 564
3. पा० गृ० सू० 2.5.32,36
4. मनु० 3.4
5. अलमर्थेन मेवतन त्वदगणैरस्मि तोषितः॥

इसके पश्चात् संस्कार के लिये कोई शुभ दिन चुन लिया जाता है। प्रातःकाल ब्रह्मचारी अपने को एक कमरे में बन्द रखता है। पुनः मध्याह्न में ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आ गुरु चरणों को प्रणाम करता है। तथा कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति प्रदान करता है। वहाँ जल पूर्ण आठ कलश रखे जाते हैं। इसके बाद ब्रह्मचारी उन कलशों के जल से स्नान करता है। ब्रह्मचारी का शरीर तपस्या और व्रत की अग्नि में तप्त हो चुकता है। अतः गृहस्थ के सुखी जीवन के लिये उसे शीतलता की अपेक्षा है। जिसका प्रतीक स्नान है।[1]

इस गौरवमय स्नान के बाद ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि ब्रह्मचारी के वाह्य चिन्हों को जल में फेंक देता है तथा एक नवीन कौपीन धारण करता है। कुछ दधि और तिल का भोजन कर दाढ़ी, केश तथा नखों को कटवाता और मंत्रों का उच्चारण करता हुआ उदुम्बर वृक्ष की टहनी से दन्तधावन करता है। स्नानोपरान्त वह अनेक अलंकारों से अलंकृत किया जाता है। इसके बाद गुरु आदर एवं स्नेह पूर्वक विद्यार्थी को मधुपर्क प्रदान करता है जो राजा, आचार्य, जामाता, ऋत्विज तथा प्रियजनों के ही लिये विहित है।[2]

इस प्रकार नवीन वेष-भूषा से अलंकृत होकर स्नातक विद्वानों के निकटतम समाज की ओर रथ अथवा हाथी पर सवार होकर जाता है। वहाँ आचार्य उसका परिचय एक सुयोग्य विद्वान के रूप में देता है। यह संस्कार भारतीय स्नातकों के विद्या समाप्ति के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के समय प्राप्त सम्मान का मनोरम अवसर है। इसलिए इसका महत्व गृह्य सूत्रों में स्पष्ट उल्लिखित है।

विवाह संस्कार

विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता है। इसीलिए जो व्यक्ति बिना पत्नी का होता है उसको अयज्ञिय कहते हैं।[3]

भारतीय सामाजिक जीवन में विवाह संस्कार का एक महत्वपूर्ण स्थान है। रचनात्मक कर्म के श्रीगणेश का यही आधार है। दो अपरिचित हृदयों के मिलन का यही केन्द्र है। विवाह मानव जीवन में यौन सन्तुष्टि का सामाजिक सांस्कृतिक रूप है। यौन क्रिया को एक सामाजिक सुचारु तथा वैध रूप विवाह द्वारा ही मिलता है। इसीलिए मानव समाज में विवाह का स्थान बड़ा ही सराहनीय है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मेनडोएक (Mendoek) संसार की 250 जातियों में प्रचलित विवाह प्रथा का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विवाह के 3 मुख्य उद्देश्य हैं (1) यौन सम्बन्धी आनन्द (2) आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग (3) बच्चों

---

1. पा० गृ० सू० 2.6 8-10
2. षडर्घ्या मर्णन्त, आचार्य ऋत्विग्वैवाहो राजा प्रिय स्नातक इति। पा० गृ० सू० 1.3 1-2
3. अयज्ञिय का एषः योऽसुत्नतीक : तै० ब्रा० 2.2.2.6

का लालन पालन। इसमें उन्होंने प्रथम को अन्य की अपेक्षा प्रधान स्थान दिया है। हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जिसके मुख्य 3 उद्देश्य हैं (1) धर्म (2) प्रजा (3) रति। इनका महत्व भी यथाक्रम है।

हिन्दू समाज में विवाह एक यज्ञ माना जाता है इसलिये जो व्यक्ति बिना पत्नी का होता है उसको अयज्ञिय कहा जाता है। एकाकी पुरुष अधूरा है। उसकी पत्नी उसका अर्धभाग है।[1]

स्मृतियाँ आश्रम व्यवस्था का पूर्णतः समर्थन करती हैं तथा इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् प्रत्येक पुरुष को अनिवार्य रूप से विवाह करना चाहिए। मनु के अनुसार आयु का चतुर्थ भाग गुरुकुल में व्यतीत कर द्वितीय भाग में विवाह कर पत्नी के साथ गृहस्थ आश्रम में निवास करना चाहिए।[2] गृहस्थ आश्रम के ही ऊपर सभी आश्रम आश्रित हैं और गृहस्थाश्रम का श्रीगणेश विवाह संस्कार से ही प्रारम्भ होता है। अतः इसका जितना ही वर्णन किया जाय वह अल्प ही है।

मनुस्मृति में विवाह के आठ प्रकार बतलाये गये हैं। (1) ब्राह्म (2) देव (3) आर्ष (4) जापत्य (5) आसुर (6) गान्धर्व (7) राक्षस (8) पैशाच।[3] इन आठ प्रकार के विवाहों को मनुस्मृति ने दो भागों में पुनः स्थापित किया है। (1) प्रशस्त (2) अप्रशस्त। प्रथम चार प्रकार के विवाह प्रशस्त हैं शेष अप्रशस्त हैं। इस समय समाज में केवल ब्राह्म और आसुर ही प्रचलित हैं। कहीं-कहीं गन्धर्व भी दृष्टिगोचर होने लगा है।

ब्राह्म विवाह

ब्राह्म विवाह सर्वाधिक शुद्धतम प्रकार है।[4] इसको ब्राह्म इस लिये कहते हैं क्योंकि यह ही केवल ब्राह्मण के योग्य माना जाता है। इसमें कन्या का पिता स्वयं विद्वान तथा शीलसम्पन्न वर को आमंत्रित कर तथा उसका विधिवत सत्कार कर उससे बिना किसी प्रकार का धन लिये हुए ही, दक्षिणा के साथ वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या का दान करता है।[5] इस संस्कार को स्मृतियाँ इसलिए उपयुक्त समझती हैं क्योंकि इस संस्कार में किसी प्रकार की शारीरिक शक्ति का प्रयोग या अन्य निम्न कोटि के साधनों का उपयोग नहीं किया जाता है। यह देवताओं को प्रत्यक्ष एवं साक्षी समझकर सम्पन्न किया जाता है। इसमें सामाजिक शालीनता और धार्मिक विचारों का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। यद्यपि यह संस्कार समाज

---

1. अर्थो अर्द्धोवा एषः आत्मनः यत पत्नीः।
2. मनु० 4.1
3. मनु० 3.21, याज्ञ० स्मृ० 1.58-61
4. आश्व० गृ० सू० 1.6, मनु० 3.37, याग० स्मृ० 1.58
(मनु० 3.37)
5. मनु० 3/37

के विकास के साथ बाद में विकसित हुआ परन्तु महत्व की दृष्टि से सबसे अग्रगण्य है।

देव विवाह

देव विवाह में कन्या का पिता कन्या को अलंकृत करके आराम्भ यज्ञ में संलग्न पुरोहित को समर्पित कर देता है। बौधायन के अनुसार कन्या दक्षिणा के रूप में ऋत्विज को समर्पित की जाती है।[1] यह देव इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह कन्या दान देव यज्ञ के अवसर पर ही किया जाता है। बाद में वह पुरोहित जिसको उचित समझता है उसको उस कन्या को समर्पित कर देता हैं। और अपनी पत्नी बनाने की अनुमति प्रदान करता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह विवाह सेवा वृत्ति से पूर्ण है परन्तु यह उपयुक्त नहीं माना जाता है।

आर्ष विवाह

आर्ष विवाह में कन्या का पिता यज्ञादि कार्य करने के लिये वर से दो गोमिथुन ग्रहण करता है।[2] यद्यपि इसे कन्या के मूल्य ग्रहण करने का भाव नहीं कहा जा सकता है फिर भी धन ग्रहण की कुछ न्यूनतम भावना का तो संकेत मिलता ही है। आश्वलायन, बौधायन तथा आपस्तम्ब सभी का कथन है कि यह दो गोमिथुन का ग्रहण शुल्क नहीं कहा जा सकता है। वीर मित्रोदय के अनुसार यह मूल्य कन्या के साथ वर को वापस कर दिया जाता है।[3] यह ऋषि परम्परा ब्राह्मणों एवं पुरोहितों के यहाँ ही होती है। अतः इसको आर्ष कहते हैं। डा० अविनाश चन्द्र दास का कथन है कि जब कोई कन्या जो आध्यात्मिक प्रवृत्ति की होती है उसका विवाह किसी ऋषि के साथ होता है तो उस विवाह को आर्ष विवाह कहते हैं।[4] यह विवाह पहले प्रशस्त माना जाता था।

प्राजापत्य विवाह

प्राजापत्य विवाह में कन्या का पिता किसी योग्य वर को अपनी कन्या इसलिये समर्पित करता है कि वे दोनों प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक धार्मिक एवं सामाजिक जीवन व्यतीत करें। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह का वह प्रकार जिसमें वर वधू साथ-साथ आचरण करें यह प्राजापत्य कहलाता है।[5] गौतम और मनु भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनका कथन है कि जिस विवाह का उद्देश्य प्रजा अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति है जिसमें पति और पत्नी के व्रत को स्वीकार करके वर और वधू सामाजिक जीवन का व्रत ग्रहण करते हैं वह प्राजापत्य विवाह कहा जाता है।[6]

---

1. मनु० 3.28
2. मनु० 3.29
3. वि० मि० स० भा० 1 पृ० 822
4. Regvedic Culture P. 2.53
5. आश्व० गृ० सूत्र० 1.6
6. मनु० 3.30

विवाह का यह प्रकार उस समय की शिक्षित अवस्था पर प्रकाश डालता है। क्योंकि इस प्रकार का विवाह जिसमें पति और पत्नी दोनों का समान अधिकार प्राप्त है वह केवल शिक्षित समाज में ही संभव हो सकता है।

आसुर विवाह

मनु का कथन है कि जिस विवाह में पति कन्या के पिता और संबंधियों को धन धान्य देकर कन्या से स्वच्छन्दता पूर्वक विवाह करता है वह विवाह आसुर कहलाता है।[7]

विवाह के इस प्रकार में धन ही प्राधान्य निर्णायक तत्व है। कतिपय विद्वानों ने इसको मानुष की संज्ञा से भी सम्बोधित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं इस विवाह के पीछे केवल धन कमाने की भावना ही प्राप्त होती है। मनु इस प्रकार से बहुत ही असन्तुष्ट हैं। उनका कथन है कि कन्या के विद्वान पिता को अणुमात्र भी शुल्क नहीं स्वीकार करना चाहिए। लोभ के कारण शुल्क स्वीकार करने वाला पुरुष सन्तान को बेचने वाला समझा जाता है।[1]

कतिपय लेखकों का कथन है कि 'धन द्वारा क्रीत नारी पत्नी का स्थान प्राप्त नहीं कर सकती और न उसे देव, पितृ आदि क्रियाओं में भाग लेने का अधिकार ही मिल सकता है। वह तो एक दासी के समान है।'[2] यूनानी लेखकों का कथन है कि यह प्रथा विशेष रूप से उत्तर पश्चिम भारत में प्रचलित है।[3]

गान्धर्व विवाह

गौतम का कथन है कि जिस विवाह में कन्या स्वयं अपने पति का वरण करती है वह गान्धर्व कहा जाता है। इस विषय में मनु द्वारा प्रणीत परिभाषा अधिक व्यापक है। उनका कथन है कि जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर संयोग करते हैं तो विवाह के इस प्रकार को गान्धर्व विवाह कहते हैं।[4] सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार अनियत असमय में किसी कारण से इच्छापूर्वक वर कन्या का परस्पर संयोग होना गान्धर्व विवाह है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि प्राचीन काल में गन्धर्व नाम की एक जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी। उनके लिये यहाँ तक कहा गया है 'स्त्रीकामा ? वै गन्धर्वाः' अर्थात् स्त्री की कामना गन्धर्वों की विशेषता है। यही कारण है कि काम वासना पर

---

1. मनु० 3.39
2. न कन्यायाः पिता विद्वान गृहीयाच्छुल्कमण्वपि।
   गृहन्हि शुल्क लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥
3. क्रीता द्रव्येण या नारी न सा पत्नी विधीयते।
   न सा देवे न सा पित्रे दासी ता कवयो विदुः॥
   वां० धं० सू० 1.20
4. मेगस्थने, आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया
5. मनु० 3.32

आश्रित इस प्रकार के विवाह की संज्ञा दी गयी। वात्स्यायन और वौधायन इस प्रथा के पोषक हैं।

इस प्रकार के विवाह का प्रचलन विशेषकर क्षत्रिय जाति में प्राप्त होता था। यह एक प्राचीन विवाह परम्परा में आता है। महाभारत में शकुन्तला के पालक का कथन है कि सकामा स्त्री का सकाम पुरुष के साथ विवाह भले ही धार्मिक क्रिया व संस्कार से रहित हो परन्तु सर्वोत्तम है।[1] परन्तु धार्मिक एवं सामाजिक आचार के अनुकूल न होने के कारण अधिकांश स्मृतिकार इसको अप्रशस्त समझते हैं। उनका विचार है कि इस प्रकार का विवाह क्रियाशून्य होता है। यह केवल वासना से उद्‌भूत होता है अतः अप्रशस्त है।[2]

राक्षस विवाह

मनु के शब्दों में रोती पीटती हुयी कन्या का उसके सम्बन्धियों माता-पिता, अन्य लोगों को क्षत विक्षत करके यदि कन्या को बलात् अपने घर लाकर विवाह किया जाय तो उस प्रकार के विवाह को राक्षस विवाह कहा जाता है।[3] इसमें शारीरिक शक्ति के द्वारा वर कन्या का अपहरण कर लाता है और युद्ध में हुए लूटपाट के सामान की तरह उसे उपभोग करता है। इस विवाह को कहीं-कहीं क्षत्रिय विवाह भी कहा गया है क्योंकि क्षत्रिय लोग युद्ध करते हैं और विजय के बाद शत्रु की सुन्दरी कन्याओं को पारितोषिक के रूप में उठा लाते हैं। इसको मनु ने बहुत निम्नकोटि का माना है।

पैशाच विवाह

इस कोटि के विवाह में वर छल कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार प्राप्त करता है। अतः इस प्रकार का विवाह सबसे निम्न कोटि का माना जाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार सुप्त, मत्त, अथवा अचेतन कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं। गौतम तथा विष्णु का कथन है कि अचेतन, सुप्त या मत्त कन्या के साथ मैथुन करना ही पैशाच विवाह है।

मनु के अनुसार जब कोई व्यक्ति एकान्त में सुप्त, मत्त, अथवा प्रमत्त कन्या के साथ मैथुन करता है तो वही प्रकार पैशाच कहलाता है।[4] देवल और याज्ञवल्क्य दोनों छल कपट द्वारा विवाहित कन्या के विवाह को पैशाच विवाह मानते हैं[5] कुछ लोगों का कथन है पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में प्रचलित विवाह की प्रथा को पैशाच विवाह कहते हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार

हिन्दू संस्कारों में यह अन्तिम संस्कार है। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् जो अंतिम

---

1. महाभारत 4.94.60
2. वी० मि० स० भा० 2 पृ० 57
3. मनु० 3.33
4. मनु० 3.34।
5. याज्ञ० 1.61।

संस्कार होता है उसे अन्त्येष्टि संस्कार कहते हैं । इसमें शव को अग्नि प्रदान कर वैदिक मन्त्रों द्वारा उसका दाह किया जाता है । विभिन्न वर्णों में यह संस्कार विभिन्न रूप से सम्पादित किया जाता है । मनुष्य के शरीर में 17 वस्तुएँ हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण वायु (प्राण, अपान, व्यान आदि), मन तथा बुद्धि । इन्हीं सत्रह वस्तुओं का सूक्ष्म शरीर लेकर जीव स्थूल शरीर को प्राप्त करता है । मृत्यु हो जाने के बाद वह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को त्याग कर एक प्रकार के वायवीय शरीर को धारण करता है । इस अवस्था में जीव के सूक्ष्म शरीर की रक्षा होती है । जीव स्थूल शरीर के भीतर बहुत दिन तक निवास करता है । और उसको स्थूल शरीर से मोह हो जाता है । वह प्रतिक्षण अपने स्थूल शरीर को प्राप्त करने की चेष्टा करता है । इस लिये शव जला दिया जाता है जिससे आत्मा उस स्थूल शरीर में न जा सके और उसकी मुक्ति हो जाय । इस दाह क्रिया के बाद मनुष्य का स्थूल शरीर जल कर भस्म हो जाता है । वह स्थूल शरीर से अलग हुई आत्मा पुत्र पौत्रादि के द्वारा प्रदत्त जलादि से सन्तुष्ट होकर मुक्त हो जाती है । बच्चों की और संन्यासियों की आत्मा सांसारिक प्रपंचों और स्थूल शरीर से कोई मोह नहीं रखती है । अतः उसको जलाया नहीं जाता है क्योंकि उसके पुनः आगमन की आशंका उसी स्थूल शरीर में नहीं होती है । अतः मृत मनुष्य की आत्मा के मोक्ष के हेतु तथा उसे प्रेत शरीर से बचाने के लिये यह अन्त्येष्टि संस्कार किया जाता है ।



छात्र जीवन एवं आचार

प्राचीन भारत में आध्यात्मिक विज्ञान का विकास अन्तिम शिखर पर पहुँच चुका था। तपःपूत भारतीय मनीषी व्यावहारिक जीवन को भी आत्मिक शान्ति के उद्देश्य से आध्यात्मिक कसौटी पर खरा उतारने का प्रयास करते थे। उनका पूर्ण विश्वास था सभी वाह्य एवं सांसारिक वस्तुएँ परिवर्तनशील एवं नश्वर हैं अतः उनके माध्यम से विकसित वस्तुएं भी स्थायी नहीं होंगी। परन्तु आत्मिक संसार अनश्वर है एवं उसमें परिवर्तनशीलता मूल में नहीं होती है स्वरूप में भले ही हो जाय। परन्तु परि-वर्तन के समय वे संस्कार छोड़ जाती हैं जो उनके मौलिकता का प्रतिनिधित्व करता है।

सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को चारों पुरुषार्थों : (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), चार आश्रमों एवं चार वर्णों में विभाजित किया गया है। इसके अतिरिक्त उन मनीषियों को यह भी ज्ञात था कि चारों आश्रम जिनके अन्तर्गत सम्पूर्ण मानवीय जीवन के व्यापार निहित हैं तभी सुचारु रूप से स्थित हो पायेंगे जब उनकी नींव बहुत ही दृढ़ एवं वैज्ञा-निक होगी। इसीलिये उन्होंने प्रथम आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य आश्रम रखा जिसका मनोवैज्ञानिक अर्थ होता है संयम और नियम का केन्द्र। इसी जीवन में मनुष्य के विकास की किरणें प्रस्फुटित होती हैं, मानसिक प्रवृत्तियों का विकास होता है। अतः जिस प्रकार के वातावरण में मनुष्य रहेगा और जिस प्रकार के उसके आचार एवं व्यवहार होंगे उसी प्रकार की उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ होंगी और मानसिक प्रवृत्तियों के अनुसार ही मनुष्य अनेक कार्यों को सम्पन्न करता है उसी प्रकार उसको दुख और सुख मिलते हैं। फलतः भारतीय ब्रह्मचर्याश्रम जिसको छात्र जीवन कह सकते हैं बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं सदाचार सम्पन्न है। विद्यार्थी के व्यवहार की क्या प्रणाली होगी।[1] कैसा उसका दैनिक जीवन होगा। इत्यादि की बड़ी ही मार्मिक व्यवस्था की गयी है।

गुरु के अभिवादन का स्वरूप एवं छात्र के कर्तव्य

उपनयन संस्कार के साथ छात्र गुरु के समीप माता पिता के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के लिये एवं सुसम्पन्न ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने के लिये समर्पित कर दिया जाता था। इसी समय से उसके जीवन का एक दूसरा स्वरूप प्रारम्भ होता था। उसके दैनिक जीवन का प्रतिक्षण नियम और संयम से आबद्ध हो जाता था। गुरु उसके जीवन का प्रधान संचालक होता था। उसकी आज्ञा उसके लिये अविचारणीय एवं सर्वमान्य होती थी।[2]

---

1. आज्ञा गुरुणामविचारणीया।
2. आज्ञा गुरुणामविचारणीया।

विद्यार्थी अब गुरु के समक्ष उपस्थित हो था तथा वह श्रद्धापूर्वक पूत मन से हाथों को हेर फेर कर अर्थात् बायें हाथ को नीचे करके और दाहिने हाथ को ऊपर रखकर गुरु के चरण का स्पर्श करता था। दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बायें हाथ से गुरु का बायाँ चरण स्पर्श करता था। साथ ही साथ अपने मन में गुरु के प्रति श्रद्धा का भाव संचारित करता था। एवं शुभाशीः की कामना करता था।[1]

प्राचीन भारत में इस चरण को स्पर्श करके अभिवादन की प्रणाली में एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक बीज निहित है। जब कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति का चरण स्पर्श करता है तो उसके अन्दर आत्मसमर्पण एवं विनम्रता का भाव जाग्रत हो जाता है जो मानव जीवन का हृदय का ही गुण है।

तब संयम एवं नियम में तत्पर विद्यार्थी उठकर नित्य क्रिया सम्पन्न कर स्नान कर देवताओं, ऋषियों एवं पितरों का तर्पण करता था। शिव एवं विष्णु आदि देव प्रतिमाओं का पूजन करता था। इसके बाद विधिवत दैनिक हवन करता था।[2]

प्रातः काल गुरु के पूजा की सामग्री पुष्प, जल, कुश, समिधा इत्यादि एकत्रित करना उसका दैनिक कर्तव्य होता था।[3] इसके लिये प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती थी। क्योंकि यह स्वाभाविक नियम है कि मनुष्य परम्परा से दृश्य वस्तुओं को स्वाभाविक करता है और उसके लिये उसको कुछ पल नहीं करना पड़ता है। उनके भी गुरु अपने गुरुओं के लिये वैसा ही आचरण और सद्भक्ति पूर्ण कार्य किया करते थे। आज की अनुशासनहीनता का एक मुख्य कारण आदर्श चरित्र का अभाव है। आदर्श चरित्र का जितना प्रभाव मानव मस्तिष्क पर पड़ता है संभवतः उतना अधिक किसी अन्य वस्तु के द्वारा संभव नहीं है। मनुष्य की प्रवृत्ति अनुरकणात्मिका होती है। वह अपने बड़ों को जिस प्रकार का आचरण, शील देखता है वह भी उसी प्रकार से आचरण करने लगता है।

मनु ने विद्यार्थी जीवन में अभिवादनशीलता को एक विशिष्ट गुण माना है। उनका कथन है कि अभिवादनशील एवं गुरुजनों तथा वृद्धों की सेवा करने वाले की आयु, विद्या, यश और बल ये चारों स्वभावतः बढ़ जाते हैं।[4] इस प्रकार अभिवादनशील होना विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य है। छात्र जीवन एक साधना का जीवन है। विद्यार्थी सदैव आचार्य को वेद का ज्ञान कराने के कारण ब्रह्मा ही समझता था। पिता को प्रजापति के समान स्थान देकर श्रद्धा करता था, माता पृथ्वी के समान पूजनीय थी और भाई अपनी ही मूर्ति के समान प्रेम का दूसरा प्रतिरूप था। इस प्रकार मनु ने

---

1. मनु॰ 2.72।
2. मनु॰ 2.167
3. मनु॰ 2.182
4. मनु॰ 2.121

एक बहुत ही मनोवैज्ञानिक रूपक के द्वारा विद्यार्थी जीवन की व्यावहारिकता को प्रस्तुत किया है ।[1]

इसलिये विद्यार्थी को माता पिता एवं आचार्य की शुश्रूषा एवं जिस किसी प्रकार से हो उनको प्रसन्न रखना ही उसके जीवन की सबसे बड़ी साधना और तपश्चर्या समझी जाती थी । बिना इसकी पूर्ति के अन्य तप अपूर्ण समझे जाते थे ।[2]

मनु ने नवयुवक छात्र के अभिवादन में एक और मनोवैज्ञानिक कड़ी जोड़ दी है । वह यह है कि यदि गुरु की पत्नी नवयुवती हो तो शिष्य को कभी भी उसका पैर छूकर प्रणाम नहीं करना चाहिए बल्कि यदि वह प्रणाम करना चाहे तो उसके समीप जाकर कुछ झुककर पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ प्रणाम करे ।[3] क्योंकि मनुष्य का इन्द्रिय ग्राम बहुत प्रबल होता है । उससे मन में विकार उत्पन्न हो जाने की पूर्ण आशंका होती है जो ब्रह्मचारी के लिये बहुत ही गर्हित कार्य होता है । इस प्रकार यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि विद्यार्थी जीवन साधना का एक मनोरम क्रीड़ा-केन्द्र था । यहाँ छात्र अपनी इन्द्रियों को वश में करने का सम्पूर्ण अभ्यास करता था । यहीं उसके जीवन का सुअवसर था । जहाँ उसके भावी जीवन की नींव पुष्ट होती थी । यह जीवन कर्त्तव्य का ही जीवन था । इसमें अधिकार नाम की वस्तु नहीं थी अधिकार तो बाद में जब गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था तब फल रूप में प्राप्त होता था जिससे वह अपने जीवन का मार्गदर्शन करता था । वह था ज्ञान और विद्या जो उसके जीवन की पूर्ण सहयोगिनी शक्तियाँ होती थीं । इन शक्तियों के माध्यम से वह जीवन में आने वाले लोभ, मोह, क्रोध एवं अनेक विपत्तियों का हँसता हुआ सामना करता था ।

धर्म और आचार विद्यार्थी जीवन के दो मुख्य कर्त्तव्य थे । किसी शिक्षा शास्त्री ने ठीक कहा भी है ।

छात्र अनुशासन का स्वरूप

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विद्यार्थी जीवन एक अनुपम स्थान रखता था । भारतीय मनीषियों ने विद्यार्थी जीवन को अनुशासन का ही जीवन कहा है । इसलिये गुरु को अनुशासक (उपदेष्टा) और शिष्य को अनुशास्य कहते हैं । शिष्य गुरु के द्वारा अनुशासित नियमों का पालन करना परम कर्त्तव्य समझता था । गुरु की आज्ञा उसके लिये अविचारणीय होती थी ।[4] इसका यह तात्पर्य नहीं था कि वह गुरु का अन्ध भक्त होता था बल्कि वह ग्राह्य गुणों को ही ग्रहण करता था । गुरु कहता था कि मेरे जो अच्छे गुण हैं उन्हीं की तुम उपासना करो अन्य गुणों की नहीं ।[5]

1. मनु० 2.226
2. मनु० 2.229
3. मनु० 2.212
   (मनु० 2.214)
4. आज्ञा गुरुणामविचारणीय ।। (रघुवंश)
5. यत् सुचरितानि तत्वयोयास्यानि नो इतरानि

प्राचीन भारत में विद्या की उपलब्धि गुरु शुश्रुषा (गुरु शुश्रुषा विद्या) के द्वारा मानी जाती थी। प्रत्येक शिष्य का परम कर्त्तव्य था कि वह सर्व प्रथम गुरु को अपनी सेवा से प्रसन्न करे और उसके बाद विद्या तो उसको संस्कारानुकूल स्वभावतः आ जाती थी। यहाँ मनु की मनोवैज्ञानिकता का बड़ा ही सुन्दर परिचय मिलता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जब मनुष्य प्रसन्न होता है तो उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और मानसिक प्रवृत्तियों, मौलिक रूप से स्थूल की तरफ से सूक्ष्म का मार्मिक अवलोकन करने में अधिक सफल हो जाता है। इसीलिये विद्यार्थी को आध्यात्मिक विद्या के सम्यक बोध के लिये गुरु को अपनी सेवा से प्रसन्न करना परम आवश्यक था। दूसरी बात इस प्रकार छात्रों का जीवन संयम-नियम आबद्ध था कि वे स्वभावतः सौम्य हो जाते थे।

वातावरण का प्रभाव मानव मास्तिष्क पर बहुत अधिक पड़ता है। प्राचीन भारत में छात्रों में अनुशासन सम्पन्नता का मुख्य कारण उनका वातावरण था जिसमें वे जीवन बिताते थे। प्रत्येक गरीब एवं अमीर छात्र उपनयन के साथ गुरु के समीप गुरुकुल में भेज दिया जाता था। वह वहाँ प्रवेश करते ही एक नूतन वातावरण का दर्शन करता था।

सर्व प्रथम उसको त्याग और सन्तोष की शिक्षा प्राप्त होती थी। वह प्रतिदिन भिक्षा माँगने जाता था और जो कुछ मिलता था उसको निःस्पृह भाव से गुरु को समर्पित कर देता था और गुरुपत्नी के द्वारा जो कुछ मिलता था उसको सादर ग्रहण कर करता था और उसी में उसको पूर्ण सन्तोष होता था।[1]

उसके सामने केवल दो बातें विशेष रूप से विचारणीय होती थीं एक तो अध्ययन और दूसरा गुरु का हित। प्रत्येक कार्य वह गुरु की हितकारिणी प्रक्रिया का आश्रय ग्रहण कर करता था।[2]

इन्द्रिय संयम प्रज्ञा के विकास के लिये परमोपयोगी साधन है। संयम सम्पन्न व्यक्ति में ही प्रज्ञा का मौलिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। अतः प्राचीन भारत में विद्यार्थी जीवन में संयम को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था।[3] यदि एक भी इन्द्रिय असंयमित है तो प्रज्ञा का विनाश हो जाता है। जिस प्रकार चमड़े के बर्तन में एक भी छिद्र हो जाने पर उसमें रखा जल निकल जाता है उसी प्रकार एक भी इन्द्रिय के असंयमित होने से व्यक्ति के प्रज्ञा का क्षरण हो जाता है।[4] अतः विद्यार्थी जीवन में इस पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में छात्र जीवन में अनुशासन सम्पन्न करने के लिए सदाचरण, उन्नतिशील वातावरण, सांस्कृतिक सहकारिता की भावना आदि गुणों का आश्रय ग्रहण किया जाता था जिनके समन्वित

1. मनु० 2.188
2. मनु० 2.191
3. मनु० 2.93
4. मनु० 2.99

वातावरण में रहते हुए विद्यार्थी की मानसिक एवं व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ स्वभावतः अनुशासित हो जाती थीं।

इसके अतिरिक्त जीवन में अनुशासन के विकास के लिए शिक्षा का मनोवैज्ञानिक होना परमावश्यक होता है। प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था पूर्ण मनोवैज्ञानिक थी। उस समय के शिक्षा सूत्र का गठन धर्म और दर्शन की पृष्ठभूमि पर गठित किया गया था। उसके अन्तर्गत मानव जीवन में आने वाली भयंकर परिस्थितियों में स्थिर रहने के लिए पूर्व से ही तैयारी कर ली जाती थी। व्यक्ति अपने जीवन के प्रथम चरण में अर्थात् ब्रह्मचर्य जीवन में ही अनेक कठिनाइयों का जीवन व्यतीत करके अपने को भविष्य के लिए सहनशील बना लेता था। वह अभ्यस्त हो जाता था। अतः भावी जीवन में आने वाली कठिनाइयों से वह कभी भी भयभीत नहीं होता था।

अपक्वमति विद्यार्थी का एवं नव परिणीता वधू का हृदय कच्ची मिट्टी के समान होता है। अतः उसको जिस प्रकार मोड़ा जाता है वह वैसा ही बन सकता है परन्तु परिपक्व हो जाने पर उसमें परिवर्तन असंभव होता है। इसलिए विद्यार्थी जीवन को अनुशासित एवं विनम्र बनाने के लिए सुसंस्कृत वातावरण, आदर्श चरित्रवान व्यक्तियों का सम्पर्क, धर्म एवं दर्शन की पृष्ठभूमि पर विकसित शिक्षा, सांस्कृतिक शिक्षा आदि का होना परमावश्यक है। हमारे वर्तमान विद्यार्थी जीवन का कालुष्य अनुशासनहीनता तभी समाप्त हो सकती है जब उपर्युक्त गुणों को समावेशित किया जाय।

□□

परिवार का स्वरूप

मनु एक लब्धप्रतिष्ठ विधि निर्माता एवं सफल समाजशास्त्री थे। उन्होंने मनुस्मृति में तत्कालीन पारिवारिक जीवन का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक उल्लेख किया है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज अनेक परिवारों का एक सम्मिलत रूप है। समाज का उत्थान पतन परिवारों की सुव्यवस्था एवं उत्थान पतन पर आधारित होता है। व्यक्ति समाज का एक सदस्य है। वह जिस प्रकार के समाज में, परिवार में पलता है उस परिवार एवं समाज के वातावरण के ही अनुकूल उसके संस्कार एवं प्रवृत्तियाँ बनती हैं। उसी के अनुकूल व्यक्ति जीवन क्षेत्र में कार्य करने के लिये कटिबद्ध होता है और उसी की ही कार्य कुशलता पर समाज का विकास होता है। इस प्रकार व्यक्ति पर समाज और समाज पर व्यक्ति का विकास आधारित होता है। माता-पिता परिवार के मुख्य संचालक होते हैं। जिस प्रकार उनका जीवन आदर्श होता है एवं जिस प्रकार उन दोनों का सामाजिक स्तर होता है उसी के अनुकूल शिशु का विकास होता है। भारतीय संस्कृति में दम्पति जीवन बड़ा ही महत्वपूर्ण माना गया है। यह एक ऐसा अवसर है जब मनुष्य को बड़ी ही सतर्कता एवं विवेचन की आवश्यकता पड़ती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनु ने सर्वप्रथम पारिवारिक जीवन को रम्य एवं सुखकर बनाने के लिये पति और पत्नी के कर्तव्यों एवं अधिकारों का उल्लेख किया और दोनों के सहयोग का मनोहर चित्रण प्रस्तुत किया है।

पत्नी के कर्तव्य का स्वरूप एवं मूल्य

प्राचीन भारतीय समाज में पत्नी का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। पत्नी सुख की मूल होती है। यदि पत्नी सहृदया, भावुक एवं कार्यकुशल है तो सम्पूर्ण परिवार स्वर्ग के समान रमणीय हो जाता है। इसीलिये उसको रमणी कहा जाता है। नारी एक ऐसी परमाणु शक्ति है जिसके सदुपयोग से परिवार स्वर्ग और दुरुपयोग से परिवार नरक बन जाता है। इसीलिये वह विकास और विनाश दोनों की जननी कही गयी है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर मनु ने स्त्री के लिये अनेक बन्धन एवं संरक्षण का उल्लेख किया है।

वह स्वभाव से कोमल एवं उदार प्रकृति की होती है अतः उसके स्वातंत्र्य में दुर्गुणों का आना स्वाभाविक होता है। उसको विचारशील विषयों में एवं आध्यात्मिक विषयों में पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए परन्तु सामाजिक जीवन में उसको सदैव सुरक्षा के लिये नियुक्त पिता, पति एवं पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए तथा इन्हीं तीनों के परामर्श के अनुकूल कार्य सम्पन्न करना चाहिए।[1]

मनु को यह भी अच्छी तरह ज्ञात था कि स्त्री जिस प्रकार वीरपुत्रों को जन्म

---

1. (मनु० 5.147)

देकर कुल की मर्यादा का सम्वर्द्धन कर सकती है उसी प्रकार यदि वह पति, पिता एवं पुत्र के संरक्षण एवं परामर्श के बन्धन से मुक्त हो गयी तो उसकी उदार प्रकृति का नग्न नृत्य होगा और कुल की गरिमा का पतन भी हो सकता है। इसलिये पत्नी को अपने पति की इच्छा के अनुकूल ही कार्य करना चाहिए। कभी भी स्वतन्त्र होने की अनरगल इच्छा नहीं करनी चाहिए।[1]

भारतीय साहित्य शास्त्र में पत्नी को गृहिणी भी कहा गया है। वह घर की स्वामिनी होती है। उसकी कोमलता, त्याग, सहानुभूति, स्वच्छता, गृह कार्य कुशलता से घर परिवारिक सदस्यों का मनोहर विश्राम स्थल कहलाता है। यह पत्नी का ही अपना दूसरा स्वरूप होता है। इसीलिये 'गृहिणी गृहमुच्यते' अर्थात् गृहिणी ही घर कहलाती है। गृह की रमणीयता का सारा श्रेय गृहिणी को ही होता है। अतः उसको सर्वदा (पति आदि के रोष में भी) प्रसन्न, गृहकार्यों में चतुर, घर के बर्तन आदि को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली और अधिक न व्यय करने वाली होनी चाहिए।[2]

पति और पत्नी पारिवारिक जीवन के मूल होते हैं। इन दोनों का सहयोग एवं सद्भावना ही पारिवारिक आनन्द एवं विकास की कुन्जी होती है। पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है अतः पति का उत्साह, उसकी क्रियाशीलता एवं उसकी प्रसन्नता पत्नी के ही ऊपर आधारित होती है। पति दिन भर बाहर काम करता हुआ श्रान्त हो जाता है उसके बाद उसको बहुत ही उत्तम विश्राम की आवश्यकता होती है परन्तु उसके लिये पत्नी ही उसकी आत्मा का और मन का मुख्य विश्राम स्थल है अतः पत्नी का यह परम कर्तव्य होता है कि वह सर्वथा अपने पति की प्रसन्नता का पर्याप्त ध्यान रखे। उसको आजीवन अपने पति की सेवा का व्रत धारण कर लेना चाहिए क्योंकि इसी व्रत में परिवार का कल्याण है और साथ ही साथ उन दोनों का भी कल्याण है।[3]

मनुष्य एक स्वतन्त्रताप्रिय प्राणी है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्रता चाहता है चाहे भले ही उससे समाज को क्षति ही क्यों न पहुँचे। इस प्रकार उसके स्वच्छन्दता के मार्ग में आने वाला प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी कभी-कभी अप्रिय बन जाता है। यह बात मनु को अच्छी प्रकार ज्ञात थी इसीलिये स्पष्ट शब्दों में मनु ने कहा है कि पति लोक को चाहने वाली पत्नी को जीवन में स्वच्छन्दता के लिये कभी भी पति का अनादर एवं अप्रिय कहने का स्वप्न भी नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से वह पाप की भागी होती है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं मनु कितनी मार्मिकता से स्त्रियों के मानसिक विकार को ढांकने के लिये एवं सामाजिक विकास के लिये अनेक प्रकार के बन्धन प्रस्तुत करते हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। मनु को जीवन में ब्रह्मचर्य के पालन में बहुत ही श्रद्धा

1. मनु० 5.149
2. मनु० 5.150
3. मनु० 5.151
4. मनु० 5.157

थी। इसके साथ ही साथ वे जानते थे जब किसी पत्नी के पति का स्वर्गवास हो जाता है तो उसके ऊपर स्वाभाविक आपत्ति के बादल घिर आते हैं। उसका जीवन अन्धकार मय हो जाता है। इस अन्धकार में व्यथित स्त्री को सामाजिक दुराचारी पथभ्रष्ट करना चाहते हैं और उसको व्यभिचार की ओर अग्रसर करते हैं जिससे समाज के दूषित हो जाने की पूर्ण सम्भावना हो जाती है। इस दुरावस्था को रोकने के लिये तथा स्त्री के अपने जीवन को स्वतः प्रकाशमय करने के लिये कहते हैं कि 'पति के स्वर्गवास हो जाने पर यदि पत्नी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती है तो उसको सामाजिक गौरव एवं मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है।'[1]

मनु को कानून निर्माता एवं समाजशास्त्री होने के साथ-साथ यदि सफल मनोवैज्ञानिक भी कहा जाय तो असंगत न होगा। स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि विवाह के बाद उनके अन्दर पुत्र सुख की बड़ी ही प्रबल अभिलाषा देखी जाती है फलतः वे कभी-कभी पुत्र की प्राप्ति के लिये परपुरुषगमन में भी संकोच नहीं करती हैं जिससे समाज में व्यभिचार का विस्तार होता है। इसके निवारण के लिये मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सन्तान के लोभ से जो स्त्री पति का उल्लंघन (व्यभिचार) करती है वह इस लोक में तो निन्दा का पात्र होती ही है और उस पुत्र के द्वारा स्वर्ग से भी भ्रष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त वह निन्दा के साथ-साथ मृत्यु के बाद श्रृगाल योनि में उत्पन्न होती है तथा पाप रोगों (कुष्टादि) से पीड़ित होती है।[2] इसलिये स्त्री को कभी भी व्यभिचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मनु ने स्पष्ट कर दिया कि पारिवारिक व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन में पत्नी का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि वह अपने कुल की मर्यादा का ध्यान रखती है तो परिवार अवश्य ही विकास के मार्ग पर अग्रसर होगा। यदि वह पति, पुत्र एवं पिता के संरक्षण से वंचित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करती है तो उसकी शारीरिक दुर्बलता और स्वभावगत उदारता का दुराचारीगण दुरुपयोग करेंगे और परिवार का विकसित मार्ग अवरुद्ध हो सकता है। इसलिये पारिवारिक जीवन में सबसे महत्वपूर्ण कार्य पत्नी का ही है। बिना उसके सहयोग के अकेले पति कुछ नहीं कर सकता है।

पति के कर्तव्य का स्वरूप एवं महत्व

जिस प्रकार पत्नी घर की स्वामिनी होती है। उसी प्रकार पति घर से सम्बन्धित सम्पूर्ण वातावरण का स्वामी होता है। दोनों परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिए के समान हैं दोनों का उत्तरदायित्व बराबर है। बिना दोनों के सन्तुलित सहयोग के परिवार का समुचित संचालन असम्भव है। पति को चाहिए कि जिस प्रकार पत्नी अपने पति को जीवन, सर्वस्व एवं प्राणेश समझती है उसी प्रकार वह भी उसको प्रणयिनी एवं जीवन की साधना समझ कर उसके साथ समता का व्यवहार करे।

---

1. मनु० 5160
2. मनु० 5.161
   मनु० 5.164

मनु पुरुषों की प्रवृत्ति से पूर्ण परिचित थे। वे जानते थे कि वह शरीर में स्त्रियों की अपेक्षा बलवान होता है फलतः वह अनधिकार की चेष्टा कर सकता है। जिससे पारिवारिक व्यवस्था में गड़बड़ी हो सकती है। अतः उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार नियम निर्देश किया कि 'पुरुषों को दिन रात स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। कभी भी उनको स्वतंत्र अर्थात् अरक्षित नहीं छोड़ना चाहिए।[1] प्रत्येक प्राणी के जीवन का परमोद्देश्य होता है आत्मा की रक्षा। मनु का कथन है पति को पत्नी की रक्षा करने से अपनी ही रक्षा होती है। उनका कथन है कि स्त्री की रक्षा करने से सन्तान सुरक्षित होती है तथा सन्तान के सुरक्षित रहने पर आत्मा सुरक्षित होती है।[2]

बाद में यहाँ तक मनु ने कहा कि यह केवल सबल पुरुषों का ही कर्त्तव्य नहीं है कि वह स्त्री की रक्षा करें बल्कि यदि पति निर्बल है तो भी पत्नी की रक्षा का प्रयास अवश्य करे।[3] संभवतः ऐसा मनु ने इसलिये कहा होगा क्योंकि वे जानते हैं कि कहीं पुरुष वर्ग को उपेक्षा का यही बहाना न मिल जाय। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की रक्षा करना पुरुष का अधिकार नहीं था बल्कि यह कर्तव्य था।

स्त्रियों की रक्षा के अन्तर्गत एक सामाजिक संरक्षण की परम्परा छिपी हुयी है। स्त्रियाँ धर्म, कुल एवं सन्तति के विकास की मूल होती हैं इसीलिये और विशेष बलपूर्वक कहते हैं कि स्त्री की रक्षा करता हुआ मनुष्य अपनी सन्तान, आचरण, कुल, आत्मा और धर्म इन सबों की रक्षा करता है। इसीलिये स्त्रियों की रक्षा परमावश्यक कर्तव्य समझकर करनी चाहिए।[4]

मनु के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का एक दूसरा उदाहरण देखें। उनका कथन है कि सन्तानोत्पत्ति के विषय में यह स्वाभाविक है कि पत्नी जिस प्रकार पति के द्वारा श्रेष्ठ या अधम वातावरण में परिरक्षित होती है उसी प्रकार उसकी मानसिक मुद्रा बनती है और उसी मानसिक मुद्रा के अनुकूल वह उत्तम या निम्न कोटि की सन्तान को जन्म देती है। फलतः उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिये स्त्री का संरक्षण एवं सम्मान परमावश्यक हो जाता है और यही पति का सर्वोत्तम कार्य है।[5]

इस प्रकार मनु स्त्री और पुरुष जो परिवार के मूल संचालक एवं आधार होते हैं उन दोनों के अलग-अलग कर्तव्य का निर्देश करते हैं। एक और अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बात कही गई है। वह यह है कि स्त्री और पुरुष को धर्म, अर्थ एवं काम के विषय में सदैव एक होकर सम्यक विवेचना एवं संचालन करना चाहिए। यही दोनों के सम्मिलित धर्म का तथा परिवार के विकास और सुख का मूल है।[6]

---

1. मनु० 9.2
2. मनु० 9.1 स्त्री रक्षा से आत्मा की रक्षा
3. मनु० 9.6
4. मनु० 9.7
5. मनु० 9.9
6. मनु० 9.101

मनु का विश्वास था कि पति पत्नी के पारस्पारिक सहयोग से ही पारिवारिक जीवन वसुन्धरा पर नन्दनवन-सा मनोहर एवं सुखमय जीवन हो सकता है। वे कभी भी दोनों में भेदभाव का दर्शन नहीं करना चाहते हैं इसीलिये वे कहते हैं कि इस संसार में गर्भ ग्रहण करने के लिये स्त्रियों की और गर्भाधान करने के लिये पुरुषों की सृष्टि हुई है फलतः साधारण जीवन में भी अग्याधान आदि कृत्यों के लिये भी पुरुष को चाहिए कि वह बिना पत्नी के सहयोग के अकेले न सम्पन्न करे।[1]

दम्पत्ति सन्तुष्टि का परिणाम

मनु इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे कि पारिवारिक सुख-समृद्धि दम्पति जीवन के सन्तुलन पर ही केन्द्रित है। दम्पति शब्द स्त्री और पुरुष में एकत्व की भावना का संकेत करता है। डा० शम्भूरत्न त्रिपाठी के अनुसार दम्पति को 'Two body one mind' अर्थात् देखने में तो वे दो दिखलायी पड़ें परन्तु मानसिक भावना के क्षेत्र में एक होना चाहिए। मनु ने भी इसी तथ्य का समर्थन मनुस्मृति में किया है। उनका कथन है कि 'जिस कुल या परिवार में एकता होती है वहाँ सदा सुख समृद्धि का ही दर्शन होता है।[2]

भारतीय सांस्कृतिक विचार परम्परा में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का विशेष महत्व है। भारतीय मनीषियों का पूर्ण विश्वास था कि जब धर्म की पृष्ठभूमि पर अर्थ और काम का विकास होता है तभी जीवन में वास्तविक सुखोपलब्धि हो सकती है। इस नियम को पूर्णरूपेण संचालित करने के लिये स्त्री और पुरुष जो परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिए के समान हैं उन दोनों का मानसिक क्षेत्र में साम्य होना परमावश्यक होता है। इसीलिये मनु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जब पति और पत्नी परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरे के अनुगामी होते हैं तब परिवार में धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ अपने आप एकत्रित हो जाते हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं परिवार के विकास में दम्पत्ति का सन्तुष्ट होना परमावश्यक होता है। उन दोनों को परस्पर सदैव एक दूसरे को प्रसन्न रखने का और सतत् एक दूसरे के लिये त्याग करने की भावना से परिपूर्ण होना चाहिए। तभी परिवार के अन्य सदस्य भी सुखमय जीवन की कल्पना कर सकते हैं। अतिथि सत्कार, वृद्ध सेवा, ब्राह्मण सत्कार, आदि सामाजिक कृत्य तभी सुचारुरूपेण सम्पन्न हो सकते हैं जब पुरुष और स्त्री दोनों एक दूसरे से पूर्ण सन्तुष्ट हों। गृहस्थ जीवन एक महत्व पूर्ण एवं उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन है इसमें अकेले पुरुष या अकेली स्त्री कभी भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकती है। अतः दोनों का भावनात्मक समन्वय परिवार के सुख-समृद्धि का मूल समझा जाता है। इसीलिये मनु इस तथ्य पर पूर्णतः प्रकाश डालते हैं।

1. मनु० 9.96
2. मनु० 3.60
3. मनु० 3

आचार्य एवं माता पिता का स्थान

जब शिशु के रूप में मनुष्य परिवार में जन्म ग्रहण करता है उस समय उसकी अवस्था बहुत ही शोचनीय होती है। यदि माता पिता का ललित लालन-पालन न प्राप्त हो तो वह कदापि जीवन नहीं धारण कर सकता है। उस समय वह शक्तिहीन रहता है। ज्ञान के क्षेत्र में भी वह शून्य रहता है। परिवार के वातावरण में उसकी आंतरिक वृत्तियों का विकास प्रारम्भ होता है। माता पिता उसके प्रधान संचालक होते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में परिवार उसकी प्रथम पाठशाला होती है। जिस प्रकार माता-पिता उसको सिखलाते हैं एवं वातावरण प्रस्तुत करते हैं उसी के अनुकूल वह क्रमशः ज्ञानार्जन करता है और अपने शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास के क्षेत्र में भी वह अग्रसर होता है। कुछ काल पर्यन्त जब वह शक्ति सम्पन्न हो जाता है तो पारिवारिक स्तर से सामाजिक स्तर में प्रवेश करता है। उस समय उसका एक नया-सा जीवन प्रारम्भ होता है जिसमें वह सामाजिक गुणों का अर्जन करता है और अपने जीवन-मूल्यों पर चिन्तन प्रारम्भ करता है। यह उसका दूसरा जीवन होता है जिसका प्रधान संचालक आचार्य या सदुपदेशक गुरु होता है। इसीलिए प्राचीन भारतीय इतिहास में मानव जीवन के पल्लवित पुष्पित होने का सारा श्रेय माता-पिता एवं आचार्य को ही दिया गया है। मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में इसका समर्थन किया है। उनका कथन है कि 'जीवन के प्रथम चरण में माता और पिता शिशु के जन्म देने में एवं पालन पोषण में जिन कष्टों को सहन करते हैं उनका निराकरण मनुष्य अपनी सम्पूर्ण आयु में नहीं कर सकता है।[1] मनु सामाजिक प्रतिष्ठा को दैवी प्रतिष्ठा से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। इसीलिए एक रूपक में उन्होंने आचार्य एवं माता-पिता तथा भाई को दैवी स्वरूपों के रूप में व्यवहृत किया है। उनका कथन है कि 'आचार्य ब्रह्मा की, पिता प्रजापति की, माता पृथ्वी की और भाई अपनी ही मूर्ति का प्रारूप है अतः इन सबका कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए'।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वह एक ऐसा समय था जब त्याग और स्नेह के कारण आचार्य और माता-पिता को सम्पूर्ण मानवीय जीवन का प्रेरक तत्व मान लिया गया था। इसीलिए मनु ने कहा है कि 'आचार्य और माता को सदैव अपने सत्कर्मों से सन्तुष्ट करने का प्रयास प्रत्येक प्राणी को करना चाहिए क्योंकि इन तीनों के सन्तुष्ट करने में ही जीवन के सम्पूर्ण तप का फल विद्यमान है और वह सहज ही उपलब्ध हो सकता है।[3]

इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यह भी कहा गया कि इन्हीं तीनों को शुश्रुषा से प्रसन्न करना ही सम्पूर्ण जीवन के तप की सफलता है। बिना इन तीनों अर्थात् आचार्य एवं माता-पिता की आज्ञा के अन्य कोई भी धर्म नहीं करना चाहिए।[4] यह

1. मनु० 2.227
2. मनु० 2.226
3. मनु० 2.228
4. मनु० 2.229

संभवतः इसलिए कहा गया होगा कि इन तीनों के निर्दिष्ट जितने सामाजिक कार्य हैं उनका पालन करने में ही सम्पूर्ण समाज का कल्याण है। अतः अन्यत्र अनेक धर्माचारण की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। यही नहीं धीरे-धीरे सामाजिक विकास के साथ इन तीनों (आचार्य और माता-पिता) के महत्व में भी विकास होता गया। यहाँ तक कहा गया कि 'वे तीनों भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों के समान हैं और यही तीनों, तीनों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ) हैं, वे ही तीन वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि आह्वनीयाग्नि) हैं।[1] यह संभवतः इसलिए कहा गया कि तीनों लोकों, तीनों वेदों और तीनों आश्रमों तथा तीनों अग्नियों की प्राप्ति इन तीनों की सेवा का फल है।

ब्राह्मण काल में यज्ञादि का इतना अधिक बाहुल्य हो गया था, उनमें इतने अधिक कर्मकाण्ड के विधान तथा सामग्रियों और द्रव्य की मात्रा बढ़ गयी थी कि साधारण व्यक्ति यज्ञ को नहीं सम्पन्न कर सकता था। इसीलिए परवर्तीकाल में स्वर्ग की सुखोपलब्धि का माध्यम आचार्य और माता-पिता को ही माना गया। मनु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इन तीनों (आचार्य एवं माता-पिता) में प्रमादहीन मनुष्य तीनों लोकों के फल को सहज ही में प्राप्त कर लेता है और अपने शरीर से देदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करता है।[2]

सम्पूर्ण समाज में इन तीनों का प्रभुत्व था। मनु ने तो यहाँ तक कह दिया कि जिस व्यक्ति ने इन तीनों (आचार्य, माता एवं पिता) का समादर कर दिया वह सब धर्मों का पालन और आदर करने वाला समझा जाता है और जिसने इन तीनों का अनादर किया उसकी सम्पूर्ण क्रियाएं निष्फल समझी जाती हैं।[3] अन्त में भगवान मनु ने कहा कि 'इन तीनों में ही मनुष्य का सम्पूर्ण (श्रुति, स्मृति, विहित) कृत्य परिपूर्ण हो जाता है। यही (आचार्य एवं माता-पिता की सेवा ही) सबसे श्रेष्ठ साक्षात पुरुषार्थ का साधक धर्म है अन्य (अग्नि होमादि) उपधर्म हैं।[4] इस प्रकार मनुकालीन समाज में आचार्य और माता-पिता का स्थान सर्वोपरि था।

समाज में स्त्रियों का स्थान

मनुस्मृति के समय में स्त्रियों का क्या स्थान था? उनके कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का किस प्रकार से मूल्यांकन किया जाता था? वर्णाश्रम व्यवस्था की वैज्ञानिक प्रणाली में उनका क्या सहयोग था? उनकी शिक्षा दीक्षा, गार्हस्थ्य जीवन के धार्मिक क्रिया कलापों में उनकी अभिरुचि का कहाँ तक सहयोग एवं सम्मान था इत्यादि बातों का विचार विमर्श हम मनुस्मृति में वर्णित प्रसंगों एवं विधि विधानों के आधार पर कर सकते हैं।

---

1. मनु० 2.230
2. मनु० 2.232
3. मनु० 2.234
4. मनु० 2.237

मनुस्मृति के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस समय समाज में स्त्रियों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। उस समय आश्रम व्यवस्था का पूर्ण पालन होता था। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि गृहस्थ आश्रम से ही सभी आश्रमों की पुष्टि होती थी। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने पर पुरुष को स्त्री के सहयोग की महती आवश्यकता होती थी। स्त्री घर की स्वामिनी होती थी। मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'गृहिणी गृहमुच्यते अर्थात् गृहिणी के रहने पर ही घर, घर होता है अन्यथा तो वह अरण्य के समान नीरस होता है। शारीरिक रचना में पुरुष स्त्री से बलवान होता है अतः उसको घर के बाहरी कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता था और स्त्री प्रेम तथा स्नेह की आधार भूमि मानी जाती थी अतः उसको गृहकार्य का उत्तरदायित्व सम्हालना पड़ता था। मनुकाल में यह भावना पूर्ण प्रतिष्ठित थी।

मनु ने तो एक स्थल पर यहाँ तक कहा है कि स्त्रियाँ सभी क्रियाओं की सिद्धि हैं। जिस घर में उनकी पूजा और उनका समादर होता है वहाँ देवताओं का निवास होता है। अर्थात् सम्पूर्ण मंगल सामग्रियाँ अपने आप वहाँ उपलब्ध हो जाती हैं और जहाँ पर स्त्रियों का अनादर होता है वहाँ पर अनेक प्रयास के विद्यमान रहने पर भी सम्पूर्ण क्रियाएँ विपरीत फलदायिनी होती हैं। अतः मंगलाकांक्षी मनुष्यों को सदैव स्त्रियों का समादर करना चाहिए।[1]

इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर मनु ने तत्कालीन समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा का चित्रण करते हुए कहा है कि जिस कुल में स्त्रियों को अनेक प्रकार की यातनायें दी जाती हैं और जिसके कारण वे दुःखित होती हैं तो वह कुल शीघ्र ही निर्धन हो जाता है और जिस कुल में स्त्रियों का सम्मान होता है उस कुल में लक्ष्मी की वृद्धि होती है और सुख वैभव की सर्वथा प्रधानता होती है।[2] इसी प्रसंग में एक अन्य श्लोक के द्वारा मनु ने स्त्रियों की प्रतिष्ठा का चित्रण प्रस्तुत किया है उनका कथन है कि जिस कुल की स्त्रियाँ निरादर के कारण दुःखी होकर कुल को श्राप दे देती हैं वह कुल देखते ही देखते अपनी सम्पूर्ण सुख सम्पत्ति को खो देता है। सुख और वैभव की मनोरम बालाओं के स्थान पर घर में अमंगलकारिणी क्रूर पिशाचिनियों का निवास होने लगता है। इसलिये कल्याण की कामना करने वाले व्यक्तियों को सर्वदा स्त्रियों का समादर करना चाहिए और उत्सवों के अवसर पर अनेक प्रकार के आभूषणों एवं वस्त्रों से अलंकृत करना चाहिए तथा उचित भोज्य पदार्थों के द्वारा प्रसन्न करना चाहिए।[3]

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि मनुकालीन समाज में स्त्रियाँ पुरुषों को प्रत्येक सामाजिक कार्य में सहयोग देती थीं। पति का पत्नी से सन्तुष्ट रहना और

---

1. यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवताः।
   यत्रांतास्तु न पूज्यते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ (मनु० 3.56)
2. मनु० 3.57
3. मनु० 3.58, 59

पत्नी को पति से प्रसन्न रहना परमावश्यक था क्योंकि ये ही दोनों परिवार रूपी शकट के दोनों पहियों के समान थे अतः इन दोनों के परस्पर सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहने पर ही परिवार का कल्याण सम्भव था। इसलिये मनु दम्पति जीवन के सौहार्द्र को बड़ा महत्व देते हैं।[1]

यह तो निश्चित है कि पारिवारिक विकास का अधिक उत्तरदायित्व स्त्रियों पर होता है। अतः यदि पत्नी पति से सन्तुष्ट है और उसके सद्व्यवहारों से श्रद्धावनत है तो उसके मानसिक सहयोग के द्वारा परिवार का प्रत्येक कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न होगा। इस मनोवैज्ञानिक तत्व से सम्भवतः मनुकालीन समाज पूर्ण परिचित था। इसीलिये स्त्रियों के सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहने पर मनु विशेष ध्यान देते हैं।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति काल में स्त्रियों की प्रतिष्ठा पूर्ण सम्मृद्ध थी। इसके साथ ही साथ स्त्रियों के जीवन स्तर के विषय में एक और विचारणीय बात है कि क्या स्त्रियों की प्रतिष्ठा मानसिक कल्पना के पंखों पर ही प्रतिष्ठित थी या क्रियात्मक क्षेत्र में उनका कुछ हाथ भी था? ऐसी बात नहीं, यदि हम विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों के अपनी-अपनी शारीरिक संरचना के अनुकूल कार्य विभक्त थे। स्त्री गृहिणी कहलाती थी। घर का सारा उत्तरदायित्व उसके ऊपर होता था। खान, पान की व्यवस्था, परिवार के सभी सदस्यों को उपयुक्त स्नेह से प्रसन्न रखना, अतिथि सत्कार करना, पति के द्वारा बाहर से लाई गयी वस्तुओं की समुचित व्यवस्था करना, गुरुजनों की सेवा करना, दैनिक यज्ञों एवं अन्य यज्ञों में पति का सहयोग करना और उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था करना, समय-समय पर पति को सद्कार्यों के लिये उत्साहित करना एवं उत्तम सन्तति को जन्म देना आदि अनेक कर्तव्य स्त्रियों के थे। जिसका वह सम्यक पालन करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि गृह सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त सुख दुःख में पति को पूर्ण मनोबल के साथ सहयोग करना भी पत्नियों का परम कर्तव्य माना गया है। इसीलिये उनको अर्धांगिनी कहा गया है।

इन पुनीत कर्तव्यों के साथ-साथ स्त्री का समाज में अधिकार भी पूर्ण सुरक्षित था। वह अपने जन्म काल के बाद से माता पिता के स्नेह की समान अधिकारिणी थी। प्रारम्भिक जीवन सम्बन्धी सभी संस्कार भी उसके लिये विहित थे। यम-स्मृति में एक स्थल पर कहा गया है कि पुराने समय में कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था। वे वेदाध्ययन करती थीं, गायत्री मंत्र का भी अध्ययन करती थीं। परन्तु उनकी इस प्रकार की समस्त शिक्षाएँ उनको पिता, चाचा एवं भाई ही देता था और

---

1. मनु० 3.60
2. स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वे तद्रोचते कुलमं।
   सस्यां त्वरो चमानायां सर्वमेव च रोचते॥
   (मनु० 3.62)

दूसरा कोई नहीं ।[1] मनु ने भी यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख किया है परन्तु वह पूर्ण स्पष्ट नहीं है । इसके अतिरिक्त मनु आदि स्मृतियों में और अन्य धर्मसूत्रों और टीकाकारों की टीकाओं में यत्र तत्र स्त्रियों के वेदाध्ययन, सावित्री वचन, एवं अन्य संस्कारों का अधिकार उल्लिखित है परन्तु वह सभी स्त्रियों के लिये नहीं है । वीरमित्रोदय (संस्कार प्रकाश) में स्त्रियाँ दो प्रकार की बतलाई गई हैं । (1) ब्रह्मवादिनी (2) शीघ्र विवाह करने वाली । अतः जो ब्रह्मवादिनी थीं उन्हीं को वेद, शास्त्रों के अध्ययन का पूर्ण अधिकार था । अन्य स्त्रियों को नहीं क्योंकि अन्य स्त्रियाँ जो गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थीं उनको गृहस्थ जीवन के कर्मों से ही अवकाश न मिल पाता था ।

इसके अतिरिक्त मनु ने यह भी स्पष्ट बतलाया है कि मनुस्मृति काल में स्वयंवर का भी अधिकार स्त्रियों को था (ऋतुमती होने के तीन वर्ष बाद तक कन्या को माता पिता की प्रतीक्षा करना चाहिए यदि इसके अन्दर वे लोग कोई सुयोग्य पति नहीं खोज पाते हैं तो अपने आप सुयोग्यपति का वरण कर लेना चाहिए । इस प्रकार से कुछ समय की प्रतीक्षा के बाद यदि वह स्वयं पति वरण कर लेती है तो उसको तथा उसके पति को किसी प्रकार का पाप नहीं होता है ।[2]

पुत्र के अभाव में पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार था । इसी प्रसंग में मनु ने कहा है कि पुत्र और पुत्रियाँ एक समान पिता की सम्पत्ति की अधिकारी हैं क्योंकि पुत्र पिता की आत्मा के समान है और पुत्री पुत्र के समान है ।[3] इसके साथ ही साथ माता की समस्त सम्पत्ति का अधिकार केवल पुत्रियों को ही था । पुत्रों को नहीं था । परन्तु यह धन अविवाहिता पुत्रियों को ही प्राप्त होता था ।[4] इन अधिकारों के साथ स्त्रियाँ अपने पति के द्वारा प्रसन्न होकर दिये गये अलंकार सम्बन्धी आभूषणादि तथा पिता एवं अन्य सम्बन्धियों के द्वारा दी गयी सम्पत्ति की पूर्ण अधिकारिणी होती थी । यह स्त्रीधन कहलाता था । इसको कोई भी नहीं ले सकता था । यदि कोई बलात ग्रहण कर लेता था तो वह पाप का भागी समझा जाता था इसके साथ ही स्त्रियाँ पति को घरेलू कार्यों में, सामाजिक कार्यों में पूर्ण अभिरुचि के साथ सहयोग करती थी । स्त्रियों को यज्ञादि में भाग लेने का पूर्ण अधिकार था । बिना स्त्री के पति कोई भी यज्ञ अकेले नहीं कर सकता था । इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु-स्मृति काल में स्त्रियाँ राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी कृत्यों में भाग लेने की अधिकारणी थीं । उनका सहयोग पति को सर्वथा मान्य था ।

मनु कालीन वर्ण व्यवस्था में स्त्रियों का महत्वपूर्ण योगदान था । अनुलोम प्रतिलोम वर्णों का निर्णय स्त्रियों के वर्ण पर ही आधारित था । यदि पति उच्च वर्ण का होता और स्त्री निम्न वर्ण की होती तो उनसे उत्पन्न सन्तान अनुलोम कहलाती

1. हारीत स्मृ० 21, 22-32
2. मनु० 9.90, 91
3. मनु० 9.130
4. मनु० 9.131

थी । इसी प्रकार यदि स्त्री उच्च वर्ण की होती और पुरुष निम्नवर्ण का होता तो उनसे उत्पन्न सन्तान प्रतिलोम कहलाती थी ।

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में वर्णित प्रसंगों के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्रियों की शिक्षा, दीक्षा, अनेक कलात्मक विषयों के ज्ञान से उस समय की स्त्रियाँ पूर्ण परिचित थीं । स्त्रियाँ गृहनीति में पूर्ण दक्ष होती थीं । इसीलिये घरेलू विषयों में उन्हीं की बातें सर्वमान्य होती थीं । इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय स्त्रियों को समाज की एक विशेष सम्पत्ति माना जाता था । इसीलिये मनु ने स्त्रियों की सुरक्षा की प्रर्याप्त व्यवस्था की है । उनका कथन है कि स्त्रियों की शारीरिक संरचना पुरुषों की अपेक्षा कमजोर है । अतः मनु-स्मृति में पुरुषों द्वारा स्त्रियों की सुरक्षा का निर्देश किया गया है । मनु का कथन है कि स्त्री जब तक अविवाहिता रहती है तब तक पिता का संरक्षण उसको प्राप्त रहता है । अतः उसको पिता के संरक्षण में रहते हुए अपने आत्मिक एवं व्यावहारिक गुणों को बढ़ाना चाहिए । इसके बाद विवाहोपरान्त स्त्री का उत्तरदायित्व पति के ऊपर आ जाता है । उसको पति-संरक्षण मिलने लगता है । अतः उसको पति की आज्ञानुकूल कार्य सम्पादन करना चाहिए । पुनः वार्धक्य के आ जाने पर स्त्रियों का उत्तरदायित्व उनके पुत्रों पर आ जाता है । अतः उस समय उसकी सुरक्षा का पूर्णभार लड़का स्वीकार करता है । इसी प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन सुरक्षित था । कुछ लोगों का कथन है कि स्त्रियाँ परतंत्र थीं परन्तु नहीं मनु का यहाँ तक कथन है कि पुरुष का यह कर्तव्य था कि स्त्रियों की रक्षा करे यह उसका अधिकार नहीं था ।[1]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनु-स्मृति काल में स्त्रियों की स्थिति पूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रवाहमान थी ।

यह इन्द्रियों के संयम से ही संभव है ।[2]

परिवार नियोजन

साहित्य समाज का दर्पण है । जब हम अपने प्राचीन साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो प्राचीन भारत के साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विकास का चित्र स्पष्टतः हमारे सामने दृष्टिगोचर होने लगता है ।

वर्तमान सभ्यता, स्थिति, एवं उपस्थित समस्याओं पर विचार करते समय बहुत-सी ऐसी समस्यायें सामने आती हैं जिनका किसी न किसी रूप में प्राचीन भारतीय साहित्य में भी उल्लेख मिलता है । यदि हम उनके समाधान के अवसर पर प्राचीन महर्षियों के विचारों का अनुसरण करें तो हमें अपनी समस्याओं के समाधान में बहुत

---

1. पिता रक्षति कौमारे भर्तारक्षति यौवने ।
   रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।
2. वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
   सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥
   (मनु० 2,100)

सहायता प्राप्त होती है। आज हमारा देश एक विषम परिस्थिति में विद्यमान है। देश के समक्ष एक ओर पड़ोसी राष्ट्रों के स्वर्थाध होने के कारण देश की सुरक्षा का प्रश्न दूसरी ओर प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण एवं जनसंख्या में अपूर्व वृद्धि होने के कारण खाद्य समस्या का प्रश्न बहुत ही जटिल है। यद्यपि यह प्रश्न केवल भारत के ही सामने नहीं है अपितु विश्व के लगभग बहुत से राष्ट्र इस समस्या से चिन्तित हैं परन्तु भारत की यह एक प्रमुख समस्या है। इस खाद्य समस्या का मुख्य कारण है जन-संख्या में निर्बाध वृद्धि का होना। इस जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए विश्व के वैज्ञानिकों ने परिवार नियोजन अभियान चलाया है। जिसके अन्तर्गत सन्तति निरोध के लिए अनेक साधन तैयार किये गये हैं।

अब हमें विचार करना है कि क्या इस प्रकार की समस्या कभी मनुकाल में भी उपस्थिति हुई थी ? यदि हुई थी तो प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इसका किस प्रकार से समाधान निकाला था और उस समाधान में तथा आज के वैज्ञानिकों के समाधान में क्या वैषम्य है ? दोनों में कौन अधिक उपयोगी है ?

परिवार नियोजन के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों ने शल्य के द्वारा तथा अन्य प्रयोगों के द्वारा, सन्तति निरोध का उपाय निकाला है। यद्यपि बहुत कुछ अंश में यह प्रक्रिया सफल भी है परन्तु अधिक अंश में परिवार नियोजन की वर्तमान प्रक्रिया दोष-पूर्ण एवं अमनोवैज्ञानिक है। क्योंकि उपर्युक्त प्रक्रिया से सन्तति निरोध तो सम्भव हो सकता है परन्तु वीर्य संरक्षण का कार्य असंभव है अपितु समाज में व्यभिचरणशील व्यक्तियों को व्यभिचार का प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार पुनः हम देखते हैं कि परिवार नियोजन की वर्तमान प्रक्रिया केवल शारीरिक है उसका मानसिक प्रवृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इस प्रणाली को हम एकांगी एवं अमनोवैज्ञानिक कह सकते हैं। दूसरे पक्ष में यदि दृष्टि डालें तो देखते हैं कि यद्यपि मनु ने स्पष्ट शब्दों में परिवार नियोजन का चित्रण नहीं किया है फिर भी यदि सूक्ष्म दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि मनु काल में भी सम्भवतः इस प्रकार की स्थिति आयी होगी अथवा जनसंख्या की वृद्धि के दुष्परिणाम से बचने के लिए मनु ने पहले से ही सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार का नियम बनाया जिससे स्वभावतः परिवार नियोजन हो जाय। यह प्रक्रिया धार्मिक होने के साथ ही साथ बहुत मनो-वैज्ञानिक है।

मनु इस मनोवैज्ञानिक तत्व से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं कि वासना का सम्बन्ध मानसिक चित्त वृत्तियों से है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का राजा मन होता है उसी की इच्छा के अनुकूल कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं। अतः किसी नव युवती को देखकर नवयुवक के हृदय में जो वासनात्मक भावना जागृत होती है और वे दोनों अनेक प्रकार की शारीरिक भावभंगिमा करने लगते हैं। इसका उत्तरदायित्व उनके हाथ, पांव, कान, आँख को नहीं अपितु मन को है। मन में जैसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। उसी प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि मन को अपने वश में कर लिया जाय तो

परिवार नियोजन स्वतः सम्पन्न किया जा सकता है और शक्ति क्षीणता के अभिशाप से भी पूर्णतः सुरक्षित रहा जा सकता है।

इस मन को अपने नियंत्रण में रखने का साधन है धार्मिक नियंत्रण एवं यौगिक साधनों एवं प्रक्रियाओं का श्रद्धापूर्ण प्रयोग। मनु ने पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए परिवार नियोजन के कार्य को धार्मिक भूमिका में संयोजित किया है। वे इस तथ्य से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं कि धार्मिक भावना का प्रभाव मन पर बहुत अधिक पड़ता है। अतः मन को धार्मिक बन्धनों के द्वारा ही सुविधा पूर्वक संयमित रखा जा सकता है।

संभवतः इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर मनु ने पति और पत्नी के मध्य होने वाली संभोग क्रिया के लिए इस प्रकार का धार्मिक बन्धन प्रस्तुत किया जिससे मनुष्य को परिवार नियोजन से सौविध्य हो और सुखमय जीवन व्यतीत किया जा सके। उन्होंने दम्पत्ति रति के लिये निश्चित दिन, समय, एवं शुभ मुहुर्त तथा पति, पत्नी की चित्तवृत्तियों तक का विचार विमर्श प्रस्तुत किया है।

मनु ने दम्पत्ति संभोग की व्यवस्था का संकेत करते समय पूर्ण बुद्धिमत्ता से काम लिया है। उनको इस बात का पूरा ध्यान है कि न तो मनुष्य की अधिक शारीरिक शक्ति क्षीण हो और प्रजा, धर्म और रति का कार्य भी सुसम्पन्न हो जाय। इसीलिए उन्होंने रति समय निर्देश को मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। मनु का कथन है कि रजोदर्शन से लेकर सोलह रात्रियाँ (दिन-रात) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतु काल रहता है।[1] इसलिए अपनी पत्नी के उत्तम स्वास्थ्य की कामना रखने वाले पुरुष को इस ऋतु काल में संभोग नहीं करना चाहिए।[2] इसके अतिरिक्त अन्य शेष दिनों में भी अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा तथा अन्य पर्व के दिनों में भी निन्दनीय संभोग नहीं करना चाहिए।[3]

इन नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति पाप के भागी होते हैं और मानव जीवन के मूल्यवान सुख से वंचित होकर अल्पायु में ही काल के गाल में नष्ट हो जाते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि रात्रि के बारह बजे के पूर्व, अरुणोदय के समय, दिन में, जिस रात्रि में आकाश मण्डल में बादल घिरे हों एवं जिस समय पति और पत्नी में से कोई भी व्यग्रचित्त हो उस समय कदापि संभोग क्रिया नहीं सम्पन्न करनी चाहिए। क्योंकि इस समय के संभोग से उत्पन्न सन्तति मन्दबुद्धि, विकलांग एवं कुल को पतित करने वाली होती है। इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति का कर्तव्य है कि उपर्युक्त निषिद्ध समय में कभी भी संभोग की कामना न करें। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि व्यक्ति मनु के निर्दिष्ट रति विषयक इन नियमों का श्रद्धा पूर्वक पालन करे तो सम्पूर्ण मास में स्वाभाविक बहुत थोड़ा-सा समय रति के लिये उपस्थित होता है। जो सामाजिक

---

1. मनु० 3.46
2. मनु० 3.45
3. मनु० 4.128

और शारीरिक दोनों दृष्टि से लाभकारी होता है। इस प्रकार के मानसिक नियंत्रण से वीर्य की पूर्ण सुरक्षा होती है, शरीर स्वस्थ रहता है, बुद्धि का विकास होता है और उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है, जिससे इहलोक और परलोक दोनों में शान्ति मिलती है और साथ ही साथ राष्ट्र का कल्याण होता है। मनु के परिवार नियोजन केरें ज्ञान की पुष्टि एक अन्य उदाहरण से भी स्पष्ट होती है। मनुकाल में शरीर विज्ञान का विकास प्रगति के पथ पर था। मनु ने एक स्थल पर कहा है कि लड़का या लड़की की उत्पत्ति मनुष्य की अपनी इच्छा पर अवलम्बित है। पत्नी की ऋतु काल की सोलह रात्रियों में प्रथम चार तो पूर्णतः निन्दनीय हैं। इसमें संभोग क्रिया कदापि नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी संभोग के लिये सन्तति के दृष्टिकोण से वर्जित है। इसके अतिरिक्त दश रात्रियों में से युग्म (सम अर्थात् छठी, आठवीं इत्यादि) रात्रियों में स्त्री के साथ समागम करने से पुत्रोत्पत्ति होती है। तथा विषम (पाँचवीं, सातवीं इत्यादि) रात्रियों में स्त्री समागम करने से कन्या की उत्पत्ति होती है। अतः पुत्रेच्छुक पुरुष को सम रात्रियों में स्त्री समागम करना चाहिए।[1] परन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि पुरुष के वीर्य अधिक होने पर विषम रात्रियों में भी समागम करने पर पुत्र और स्त्री के रज की मात्रा के अधिक होने पर सम रात्रियों में भी कन्या की उत्पत्ति होती है। पुवीर्य एवं रज के समान मात्रा में होने पर नपुंसक तथा कभी-कभी जोड़वा बच्चों के रूप में पुत्र और कन्या दोनों उत्पन्न हो जाते हैं और दोनों के वीर्य के क्षीण एवं कमजोर होने पर गर्भ नहीं स्थिर हो पाता हैं।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुकालीन समाज का परिवार नियोजन एवं शरीर विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान बड़ा ही अच्छा एवं सुलभ है। इसके अतिरिक्त परिवार नियोजन के मार्ग में एक और विशाल बाधा है वह है अज्ञान। प्रत्येक स्त्री पुरुष को अपनी और अपने प्रिय व्यक्ति का जीवन परमप्रिय होता है। वे एक दूसरे के दीर्घायु की सदैव कामना करते हैं। यहाँ तक कि वे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अज्ञान में अनेक व्रतोपवास करते हैं परन्तु उनको यह नहीं मालूम है कि मनुष्य के जीवन का सबसे मूल्यवान तत्व वीर्य है। उसकी रक्षा के बिना जीवन स्थिर नहीं हो सकता है। मृत्यु पर भी यदि देवताओं ने विजय प्राप्त की है तो ब्रह्मचर्य के ही बल पर। अन्य किसी शक्ति से यह काम सम्भव नहीं है।[3] फलतः इस वीर्य का संयमपूर्वक संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जिस वीर्य को कामाचार में मनुष्य क्षणिक आनन्द के लिये नष्ट कर देता है। उसकी क्षतिपूर्ति कभी सम्भव नहीं हो सकती है। साठ ग्रास सन्तुलित भोजन का एक बूंद रक्त बनता है। और साठ बूंद हृदय के पवित्र रक्त का एक बूंद वीर्य बनता है। यह वीर्य शरीर में

---

1. पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
   समे पुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥

   (मनु० 3.49)

2. मनु 3.48
3. ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाद्दत्त।

विद्यमान नहीं रहता है। जब मनुष्य के अन्दर वासनात्मक भावनाएँ प्रवेश करती हैं तो मनुष्य के हृदय की गति तीव्र हो जाती है और वही वीर्य बन जाता है। जिसकी क्षीणता मृत्यु को निमंत्रण देना है। इस तथ्य से यदि दम्पति पूर्ण परिचित हो जाय तो निश्चय ही वे संभोग रूप निन्दनीय कार्य में कभी भी प्रवृत न होंगे। वे केवल सन्तान उत्पत्ति में ही इस पवित्र शक्ति का उपयोग करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु के द्वारा निर्दिष्ट नियमों के पालन करने से पति और पत्नी दोनों पूर्णरूप से अपने मन पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकते हैं। यदि प्रत्येक गृहस्थ पति एवं पत्नी मनु द्वारा वर्जित तिथियों, दिनों एवं समय पर संभोग कार्य बन्द कर दें तो परिवार नियोजन स्वभावतः हो जायेगा और इसके लिये कृत्रिम यंत्रों के प्रयोग के द्वारा शरीर को और रोगमय करने की आवश्यकता नहीं होगी।

भक्ष्या-भक्ष्य विमर्श

मनोवैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियों के ऊपर भोज्य पदार्थों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का हम भोजन करते हैं उसी प्रकार से हमारा सात्विक, राजसी एवं तामसी प्रवृत्तियों का विकास होता है और उन्हीं प्रवृत्तियों के अनुकूल कार्य करने के कारण मनुष्य भी सात्विक, राजसी एवं तामसी कहा जाता है। संभवतः मनु इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से पूर्णतः परिचित थे क्योंकि समाज में प्रतिष्ठित द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में सत्व एवं रजस् गुणों के अनुकूल भोज्य पदार्थों का उन्होंने बहुत मार्मिकता से संकेत किया है। इसके साथ तामसी प्रवृत्ति वाले शूद्रों के लिये तामसी भोज्य पदार्थों का भी निर्देश किया है।

मनु ने निम्नलिखित पदार्थों को तामसी, गरिष्ट, निन्द्य एवं मानव शरीर के अनुकूल न होने के कारण उनके भक्षण का बलपूर्वक निषेध किया है।

(क) सात्विक एवं राजसी गुणों के समन्वय वाले द्विजों का लहसुन, सलगम, प्याज, छत्राक एवं श्मशान आदि पर बोई गई सब्जियों को कदापि नहीं खाना चाहिए।[1]

(ख) वृथा (बिना देवादि के निमित्त—अपने लिये तैयार किया गया) कृसरान्न (तिल मिश्रिल भात) संयोव (हलुवा या मोहन भोग) खीर, मालपुआ, अनूपान कृत (बिना यज्ञ के मारा गया) मांस, देवान्न (नैवेद्य के निमित्त निकाला हुआ अन्न) हविष्य आदि नहीं खाना चाहिए।[2] इसमें निषिद्ध अनुयान कृत शब्द से प्रतीत होता है कि यज्ञ में बलि के रूप में प्राप्त मांस के खाने का विधान था।

---

1. लशूनं गृह जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥
(मनु० 5.5)

2. मनु० 5.7

(ग) प्रसव करने के दिन से जिसको 10 दिन न बीते हों ऐसी गाय, भैंस बकरी आदि भी का ग्रहण कर लेना चाहिए। ऊटिनी, एक खुरवाली पशु, भेंड़ गर्भवती होने की इच्छा वाली पशु, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय आदि के दूध को नहीं पीना चाहिए।[1]

(घ) इसके अतिरिक्त मनु जंगली पशुओं में भैंस को छोड़कर अन्य नील गाय, हिरण आदि के तथा स्त्री के दूध का पान करने का निषेध करते हैं तथा सिर्का आदि ऐसे पदार्थ जो अधिक समय तक रखे रहने पर खाने में खट्टे होने पर मधुर लगते हों उनका भी परित्याग कर देना चाहिए ऐसा संकेत करते हैं क्योंकि ये सभी तामसी वृत्तियों को बढ़ावा देने वाले होते हैं। इसके साथ उसी स्थल पर मनु ने दही और मट्ठे तथा नशा न करने वाले फूलों और फलों के बने पदार्थों को ग्रहण करने का प्रतिपादन किया है।[2]

(ङ) एक स्थल पर मनु ने मांस खाने वालों को भी कुछ विशेष प्राणियों के मांस खाने से मना किया है। उनका कथन है कि कच्चा मांस खाने वाले (गीध, बाज, चील आदि) तथा गाँव में या मनुष्यों के आवास में रहने वाले को (कबूतर, मैना आदि) और टिटिहरी आदि का मांस नहीं भक्षण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गौरैया, प्लव, हंस (चकवा, ग्राम्य मुर्गा, सारस, कौवा, तोता और मैना के भी मांस का भक्षण शरीर के विकास के लिये बहुत क्षतिपूर्ण है। अतः इनका मांस भी नहीं खाना चाहिए।[3]

(च) मनु एक समदर्शी ऋषि एवं साथ-साथ समाजशास्त्री भी थे। जहाँ पर उन्होंने समाज में प्रतिष्ठित द्विजों के लिये मांस भक्षण का निषेध किया वहीं पर तामसी प्रकृति के व्यक्तियों के लिये उन्होंने मांस खाने का भी विधान किया है। परन्तु उनके लिये भी जो स्वास्थ्य की दृष्टि से असंगत प्राणी हैं उनके मांस न खाने का और सुपाच्य है और स्वास्थ्य के लिए कुछ उपयोगी है उनका विवरण दिया है। उनका कथन है कि हव्य और काव्य (देव कार्य और पितृ कार्य में विहित पाठीन, रोहित (शेहस, रोह) राजीव, सिंहतृण्ड और चोंइटा से युक्त सब प्रकार की मछलियाँ भक्ष्य हैं।[4] परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन प्राणियों के मांस भक्षण का निषेध किया गया है उनका मांस कदापि नहीं खाना चाहिए ऐसा करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित का भागी होता है। क्योंकि मनु ने जिनका निषेध किया है वे मानव शरीर के अनुकूल हानिकारक हैं।

एक स्थल पर मनु ने पर्युषित (बासी) भोजन के विषय में विचार करते हुए कहा है कि विकारहीन मोदक आदि अन्य पदार्थों के बासी हो जाने पर उनको तेल या

---

1. मनु० 5.8
2. मनु० 5.9, 10
3. मनु० 5.24
4. मनु० 5.30

घृत में संस्कृत करके द्विज को ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि इस प्रकार संस्कार कर लेने पर उसमें अन्तर्हित शक्ति आ जाती है।[1] परन्तु इस सिद्धान्त के ऊपर अनेक मत हैं। कल्लक भट्ट के मतानुसार मनु का पर्युषित भोजन करने का तात्पर्य केवल द्वविसन्न के ही लिये है। अन्य अन्न को बासी हो जाने पर नहीं खाना चाहिए। क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार एक बार अग्नि में संस्कृत पदार्थ का पुनः अग्नि में संस्कार करने से वह पदार्थ तत्वहीन अतएव अभक्ष्य हो जाता है। इसी प्रकार यशस्तिल कंचप्पू में भी कहा गया है—

पुनरुष्णीकृतं त्याज्यं सर्वधान्य विरूढ़कम्।
दश शत्रोषिते वाद्यात्कसे च निहितं घृतम्॥

अर्थात् दूसरी बार गर्म किया गया पदार्थ खाने योग्य नहीं रह जाता है अतः त्याज्य हो जाता है।

इसके अतिरिक्त मनु का कथन है जो व्यक्ति प्रतिदिन मांस खाते हैं उनको मांस भक्षण में दोष नहीं होता है। क्योंकि उनका वही आहार हो जाता है औ ब्रह्मा ने ही भक्ष्य और भक्षक दोनों का निर्माण किया है।[2] मांस का भक्षण में भी यज्ञ के लिये (शास्त्रोत्क विधि से) मांस का भक्षण करना देव विधि है और इसके विपरीत अपने स्वाद के लिये मांस का भक्षण करना राक्षस विधि है। इसलिये खरीद कर, स्वयं मार कर अथवा किसी के द्वारा दिये गये मांस को यदि देवताओं और पितरों के लिये समर्पित करके खाने में कोई दोष नहीं होता है। इस प्रकार मनु शाकाहारियों और मांसाहारियों दोनों को प्रोक्षित भोज्य पदार्थ भक्षण का संकेत करते हैं। किसी-किसी स्थल पर मनु ने श्राद्ध तथा मधुयर्क में प्रयुक्त मांस का खाना आवश्यक बतलाया है। उस यज्ञीय मांस को न खाने वाला मर कर 21 जन्म तक पशु होता है। भक्ष्याभक्ष्य विमर्श के प्रसंग में मनु की विचारधारा यद्यपि स्पष्ट नहीं है। कभी तो वे मांस भक्षण का स्पष्ट निषेध करते हैं और कभी-कभी विकल्प में यज्ञ एवं मधुयर्क के रूप में मांस भक्षण का विधान भी करते हैं परन्तु फिर भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि मनु की वस्तुतः धारणा मांस भक्षण के पूर्णतः विपरीत थी। एक प्रसंग में उन्होंने मांस भक्षण के परित्याग के विषय में कहा है कि मांस भक्षण के परित्याग से उतना पुण्य प्राप्त होता है जितना अश्वमेध यज्ञ के रोकने से होता है। जिसने मांस भक्षण त्याग का निश्चय हृदय से कर लिया हो उसको सर्वदा यज्ञ, तपस्या एवं दान का पुण्य स्वभावतः उपलब्ध हो जाता है।[3] इसी विचारधारा को हृदय में धारण कर सम्भवतः मनु ने मांस शब्द की व्याख्या भी की है। उनका कथन है कि मैं

1. मनु॰ 5.11, 12
2. मनु॰ 5.16
3. मनु॰ 5.31, 32
   मनु॰ 5.35

जिसके मांस को यहाँ भक्षण करता हूँ वह मुझे परलोक में भक्षण करेगा, विद्वान मांस शब्द का यही मांसत्व बतलाते हैं ।[1]

अन्त में मनु ने मांस भक्षण, मद्यपान एवं मैथुन आदि क्रियाओं को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति बतलाते हुए उनके प्रयोग में दोषभाव का प्रतिपादन किया है परन्तु यह भी स्पष्ट कहा है कि यद्यपि उन वस्तुओं का सेवन मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है परन्तु उन वस्तुओं के सेवन का परित्याग महान फल देने वाला है ।[2] फलतः साधारण कोटि से उठे हुए व्यक्तियों को अवश्य ही मांस भक्षण का परित्याग कर देना चाहिए । उनको जन-साधारण की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार विचार-विमर्श से स्पष्ट हो जाता है कि मनु द्वारा निर्मित भक्ष्याभक्ष्य विमर्श सामाजिक विकास के दृष्टिकोण से बहुत ही महत्वपूर्ण एवं आचरणीय है । इसके अतिरिक्त मनु ने अधिक भोजन करने से भी मना किया है । क्योंकि किसी ने ठीक भी कहा है कि अजीर्ण भोजन लाभ के स्थान पर विष का काम करता है ।[3] इसके साथ ही साथ भोजन के बाद बिना आचमन किये हुए कभी भी कहीं नहीं जाना चाहिए, क्योंकि मुख के अन्दर में पड़ा एक भी अन्न दूषित गैस को उत्पन्न करता है और दाँतों में कीटाणुओं का आक्रमण की सम्भावना निश्चित हो जाती है ।

अतिथि सत्कार विमर्श

प्राचीन भारत में अतिथि सत्कार का बड़ा ही महत्व था । मनु ने मनुस्मृति में भी अतिथि के महत्व का एवं लक्षण का विवेचन किया है । उनका कथन है कि गृहस्थ के घर एक रात अर्थात् चौबीस घण्टे ठहरने वाला ब्राह्मण अर्थात् बुद्धि प्रधान द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को अतिथि कहा जाता है । क्योंकि आने और ठहरने की तिथि (समय) न निश्चित रहने से उनको अतिथि (न-विद्यते तिथिः यस्य सः) कहा जाता है ।[4]

यहाँ अतिथि शब्द के लक्षण में निर्दिष्ट बातों के अतिरिक्त श्रद्धा भाव का समन्वय परमावश्यक है । सच्चा अतिथि तो वह है जिसके आने से मन में एक अपूर्व शान्ति प्राप्त हो और साथ ही साथ श्रद्धा के भाव प्रस्फुटित हों । इसी दृष्टिकोण से मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्राह्मण के घर क्षत्रिय अतिथि नहीं हो सकता है क्योंकि ब्राह्मण बुद्धिजीवी होने के कारण क्षत्रिय से श्रेष्ठ माना जाता है । अतः उसके अन्दर क्षत्रिय अतिथि के प्रति स्वाभाविक सेवाभाव नहीं प्रकट होता है । इसी प्रकार

---

1. मनु॰ 5.53
   मनु॰ 5.55
2. मनु॰ 5.56
3. अजीर्ण भोजनम् विषम
   (आयुर्वेद)
4. मनु॰ 3.102

वैश्य क्षत्रिय का अतिथि नहीं हो सकता था और शूद्र वैश्य का अतिथि नहीं हो सकता था। परन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का, वैश्य शूद्र का अतिथि हो सकता था।[1]

मनोवैज्ञानिक आधार पर यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति सम्मान चाहता है तो यह उसका परम कर्त्तव्य होता है कि वह अन्य प्राणियों का भी सम्मान करे। यह आतिथ्य सत्कार की भावना इसी प्रक्रिया से पूर्ण प्रभावित थी। इसीलिये मनु ने कहा है कि घर पर आये हुए अतिथि को आसन, पैर धोने के लिये जल एवं यथायोग्य सुसंस्कृत श्वाद सामग्री श्रद्धापूर्वक समर्पित करना चाहिए।[2]

इसके अतिरिक्त इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि अतिथि सत्कार में द्रव्य के उपयोग की प्रधानता नहीं होती थी बल्कि आतिथ्य सत्कार में श्रद्धाभाव की प्रधानता थी। इसीलिये तो यहाँ तक मनु ने कहा है कि तृण, भूमि, जल एवं मधुर वाणी ये चारों तो प्रत्येक सज्जन के पास प्रकृतिदत्त स्थिर वस्तुएँ हैं यदि घर में अन्नादि वस्तुओं का अभाव भी हो तो भी उपर्युक्त वस्तुओं के ही द्वारा अतिथि का समादर अवश्य करना चाहिए।[3]

भारतीय संस्कृति का सबसे मूल तत्व है त्याग की भावना जिसका महत्व प्रत्येक स्थल पर समान है। प्रत्येक भारतीय अपने त्याग के द्वारा छुद्र से छुद्र प्राणी को भी सन्तुष्ट करना चाहता है। वह स्वयं भूखा रह सकता है परन्तु वह कभी भी अपने घर पर आये अतिथि को या अन्य प्राणिमात्र को कभी भी भूखा नहीं देख सकता है। इसी बात को मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'सायंकाल घर पर आये हुए अतिथि को कभी भी मना नहीं करना चाहिए चाहे वह भोजन के समय पर आया हो अथवा बाद में ही क्यों न आया हो। यद्यपि बाद में अपने पर उनके लिये अनेक कष्ट उठाने पड़ेंगे फिर भी यह उसको स्वीकार है।[4] एक दूसरे स्थल पर मनु ने यह भी बतलाया है कि 'यदि किसी व्यक्ति के यहाँ बहुत से अतिथि एक ही साथ आ जावें तो उस समय उस व्यक्ति को चाहिए कि यथायोग्य सत्कार प्रस्तुत करे अर्थात् जो अधिक पूज्य है उसको उस प्रकार आसनादि देना चाहिए। इसके बाद मध्यम श्रेणी को फिर निम्न श्रेणी के व्यक्ति को उसके स्तर का व्यवहार करना चाहिए।[5]

यदि मनुष्य के अन्दर कुछ भी पौरुष हो तो अवश्य वह अपने स्वत्व के रक्षण का प्रयास करता है यहाँ तक कि अपनी जाति और देश के अभिमान के लिये पौरुष सम्पन्न वीर लोग अपने प्राण की भी बाजी लगा देते हैं। वे अपनी स्वतः निन्दा को सहन कर सकते हैं परन्तु देश और जाति सम्बन्धी निन्दा को कभी भी नहीं सहन कर सकते

1. मनु॰ 3.110
2. मनु॰ 3.99
3. मनु॰ 3.101
4. मनु॰ 3.105
5. मनु॰ 3.107

हैं। एक स्थल पर मैथिलीशरण गुप्त जी ने कहा है कि जिस व्यक्ति के अन्दर अपने देश और जाति के प्रति अभिमान नहीं है वह व्यक्ति जीते भी मृतक के समान है।[1] इसी बात का संकेत मनु ने अतिथियों के लिये भी किया है। उनका कथन है कि 'ब्राह्मण अतिथि को चाहिए कि वह कभी भी भोजन पाने के लिये यह न कहे कि मैं ब्राह्मण हूँ मुझे भोजन दे दीजिये क्योंकि इससे जाति का अपकर्ष होता है। इस प्रकार भोजन के लिये अपने गोत्र और अपनी जाति का नाम बतलाने वाला व्यक्ति अत्यन्त निन्दनीय होता है। और उसके द्वारा प्राप्त भोजन वमन किये हुए भोजन के सदृश गर्हित समझा जाता है।[2]

शारीरिक अवस्था का ध्यान रखते हुए मनु एक स्थान पर इस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत करते हैं कि 'नव परिणीता वधू को, कुमारी कन्या को एवं रोगी को बिना किसी विचार विमर्श के अतिथि के भोजन के पहले भोजन करा देना चाहिए।[3] इस प्रकार मनु का मनोवैज्ञानिक अध्ययन स्पष्टतया प्रतीत होता है। वे जानते थे कि एक नवोढ़ा एवं कुमारी तथा गर्भिणी स्त्री एवं रोगी इन सभी की शारीरिक और मानसिक स्थिति क्या होती है इसी के अनुकूल वे इस प्रकार का विधान करते हैं।

इसी परम्परा के पालन करने में मनु ने गृहस्थ दम्पति को बाद में भोजन करने का विधान किया है। उनका कथन है कि 'गृहस्थ दम्पति (स्त्री-पुरुष) को अतिथि, ब्राह्मण, स्वमातीय एवं अन्य मृत्यगणों के भोजन कर लेने के बाद स्वयं भोजन करना चाहिए।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति में निर्दिष्ट अतिथि का स्वरूप एवं अतिथि के साथ अपरणीय व्यवहार के नियम बहुत ही मनोवैज्ञानिक है।

इन्द्रिय संयम एवं मानव-जीवन

प्राणी मात्र में मानव जीवन सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वैसे तो यदि हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि व्यावहारिक क्षेत्र में पशु भी मनुष्यों के समान प्रायः सभी कार्य करते ही हैं परन्तु एक ही वस्तु ऐसी है जो पशु के पास नहीं होती है वह केवल मनुष्य के ही पास है वह है ज्ञान या विवेचन शक्ति जिसके कारण मनुष्य जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किसी विद्वान ने कहा भी है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन, आदि बहुत सी क्रियायें पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से प्राप्त होती हैं परन्तु ज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जो केवल मनुष्य के पास है जिसके कारण वह अन्य सम्पूर्ण प्राणियों में श्रेष्ठ है और यदि मनुष्य ज्ञान का उपयोग अपने जीवन में नहीं करता है

---

1. जिसको न निज देश और निज जात का अभिमान है
   वह..
2. मनु० 3.109
3. मनु० 3.114
4. मनु० 3.116

तो मनुष्य होते हुए भी वह पुच्छ और विषाण से रहित पशु ही के समान समझा जायेगा ।[1] अतः मानव जीवन में ज्ञान का सर्वाधिक महत्व है ।

भारतीय ऋषियों ने इस ज्ञान या बुद्धि को मानव जीवन का अमूल्य निधि कहा है अतः उन्होंने इसके संरक्षण के लिये बहुत ही उत्तम व्यवस्था की है । हमारे शरीर रूपी भव्य प्रासाद की ग्यारह इन्द्रियाँ ही आगमन और निर्गमन द्वार हैं । इन्हीं के मध्य में मानव जीवन को अमूल्य निधि ज्ञान कोष अर्न्तनिहित है । फलतः उस निधि के संरक्षण के लिये इन इन्द्रिय रूप दरवाजों का दृढ़ होना परमावश्यक है । इन्हीं इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना मानव का सबसे मुख्य कर्तव्य है । इन पर नियंत्रण रखने वाला मनुष्य ही जीवन की सफलता के स्वप्न देख सकता है । इसीलिये मनु ने व्यक्ति और समाज के समन्वात्मक कल्याण के लिये इन्द्रियों के निग्रह को मानव जीवन में परमावश्यक बतलाया है । उनका कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि इधर-उधर विषयों में भगाने वाली इन्द्रियों का उस प्रकार नियंत्रण करे जिस प्रकार इधर-उधर भागने वाले घोड़े को सारथि अपने वश में रखता है ।[2]

मनु ने इन इन्द्रियों की संख्या ग्यारह मानी है । मनु की यह मान्यता स्वतः प्रादुर्भूत नहीं है बल्कि उनका कथन है कि उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी यही माना है । जिसमें पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय होती हैं और ग्यारहवीं इन्द्रिय उन्होंने मन को भी स्वीकार किया है और उसको सभी इन्द्रियों में प्रधान माना है । साथ ही साथ उनका कथन हैं कि यदि इस ग्यारहवीं इन्द्रिय मन पर नियंत्रण कर लिया जाय तो अन्य शेष इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करना सुगम हो जाता है ।[3] इनमें से कान, चर्म, नेत्र, जीभ एवं नाक ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं और गुदा, लिंग, हाथ, पैर एवं वाणी ये पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं ।[4]

इस प्रकार मनु ने इन इन्द्रियों का दो रूपों में विभाजन करके स्पष्ट कर दिया कि इन इन्द्रियों को यदि अलग-अलग उपायों से वश में रखने से जीवन में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है । और यदि इन पर नियंत्रण न रखा गया और इनको इनके अपने विषयों के साथ पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गयी तो इनसे दोष अवश्य उत्पन्न हो जायेगा और उसका भागी मनुष्य ही होगा जो इनका आधार है । अतः इन पर नियंत्रण करना मानव का परम कर्तव्य है ।[5]

यद्यपि मनु की उपर्युक्त धारणा का कुछ विद्वान विरोध करते हैं और उनका कथन है कि इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयो में आसक्त होने की स्वतंत्रता न मिली तो

---

1. आहार निद्रा भय मैथुन च समान एतदपशुभिर्नराणां ।
   ज्ञानोहि तेषांमधिको विशेषः ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः ॥
2. मनु० 2.88
3. मनु० 89, 91, 92
4. मनु० 2.90
5. मनु० 2.93

सामूहिक रूप से मनुष्य के शारीरिक विकास के रुक जाने की सम्भावना होती है और उससे अधिक विकास उत्पन्न हो जाने की सम्भावना हो जाती है परन्तु यदि इन्द्रियों को अपने विषयों में आसक्त होकर उपभोग करने का अवसर मिलता है तो कुछ दिन के बाद उनकी वासना शान्त हो जाती है। जैसे क्षुधित होने पर यदि भोजन प्राप्त हो जाय तो क्षुधा शान्त हो जाती है। परन्तु मनु ने इस सिद्धांन्त को पूर्ण अवैज्ञानिक और निराधार बतलाते हुए कहा है कि विषयों के मुक्त उपभोग से कभी इच्छा शान्त नहीं होती है बल्कि घी से अग्नि के समान वह इच्छा पुनः बढ़ती ही जाती है। फलतः इन विषयों में पूर्ण उपभोग को प्राप्त करने वाले मनुष्य की अपेक्षा इन विषयों से अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित कर रखने वाला मनुष्य उत्तम होता है और वही जीवन में सफलता के मार्ग पर अग्रिम चरण रख सकता है। धैर्य और बल उसी की सहायता करते हैं।[1] इसलिये इन्द्रिय संयम का मानव जीवन में बड़ा महत्व है।

इस प्रकार मनु ने इन्द्रियों के नियंत्रण का उपदेश करते हुए उनके संयम का बहुत ही उपयुक्त उपाय भी बतलाया है। उनका कथन है कि इन इन्द्रियों को हठात् रोक लेने से इन्द्रिय संयम नहीं हो सकता वह तो क्षणिक होता है यदि अवसर मिला तो वे पुनः उस तरफ प्रवृत्त हो जायेगी। अतः विषयों के सम्यक ज्ञान के द्वारा ही इन्द्रिय संयम दृढ़ हो सकता है। अर्थात् जिस विषय में जो इन्द्रिय आसक्त है उस इन्द्रिय को इस विषय से छुटकारा दिलाने के लिये उस विषय के विकारों का पूर्णज्ञान यदि कर लिया जाय और उसके बाद उसके सहारे यदि इन्द्रिय को रोका जाय तो एक बार अवरुद्ध हो जाने पर पुनः आसक्ति की आशंका नहीं रह जाती है। क्योंकि विकार के वास्तविक ज्ञान के द्वारा यदि इन्द्रिय को भी घृणा हो जाती है और घृणा हो जाने पर वह पुनः उस तरफ प्रवृत्त होने की इच्छा नहीं करती है यदि करती है तो उस पर नियंत्रण प्राप्त करना सुगम हो जाता है। फलतः इन्द्रिय संयम के लिये विषय का ज्ञान परमावश्यक होता है।

मनु ने सभी इन्द्रियों में सबसे बलवान मन को माना है जिसका स्वभाव ही विकार की ओर प्रवृत्त होना है। इसलिये जिस मनुष्य को अपने पर नियंत्रण नहीं होता है उसके तप, ज्ञान, वेदाध्ययन, नियम एवं अन्य सभी सिद्धियाँ कभी भी फलदायिनी नहीं हो पाती हैं। इसके अतिरिक्त मनु ने यहाँ तक स्पष्ट कहा है कि केवल एक इन्द्रिय के संयम से कदापि जीवन की सफलता सम्भव नहीं है। इन इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय विषयासक्त है तो उससे मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है जिस प्रकार चमड़े के वर्तन (मशक आदि) के एक भी छिद्र से सब पानी बहकर नष्ट हो

1. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यश्चेतान्प्राप्नुया त्सर्वान्यश्चेतान्केवलांस्त्यजेत।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशष्यिते॥
(मनु० 2.94, 95)

जाता है। अतः सम्पूर्ण इन्द्रियों का क्रमशः पूर्ण नियंत्रण मनुष्य के लिये परमावश्यक होता है और इसी में मानव जीवन की सफलता अवलंबित है।[1]

इसलिये अन्त में मनु ने यही निर्णय दिया है कि मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इस इन्द्रिय समूह को वश में करके उपाय से धीरे-धीरे अपने शरीर को कष्ट न देता हुआ सम्पूर्ण पुरुषार्थों की साधना में तत्पर रहे क्योंकि इन्हीं पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की साधना मानव का परम धर्म है।

□□

1. मनु० 2.96,मनु० 2.87, 99

भारत की प्राचीन एवं नवीन शिक्षा पद्धति की संक्षिप्त समीक्षा

सुदूर प्राचीन काल से भारतीय वाङ्मय में अध्यापन का कार्य पुण्य कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मण के मान्य पाँच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञ में विद्यार्थी को ज्ञान देना प्रधान है। मनुस्मृति (3/70) में उल्लेख है, 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' इस यज्ञ को पूर्ण करने के लिए प्रत्येक विद्वान गृहस्थ के साथ शिष्यों का होना परमावश्यक था। ब्रह्मयज्ञ का सम्पादन करने वाले आचार्य का निवासस्थान ही विद्यालय होता था। प्राचीन भारत में विद्या केन्द्रों की स्थापना नगरों से दूर वनों में होती थी। वैदिक काल में आचार्य के आश्रम एवं विद्यालय की स्थापना के लिए समीप में गायों के चरने के लिए चरागाह, अर्थात् विस्तृत हरा-भरा भू भाग, हवन में अपेक्षित लकड़ी के लिए वृक्षों से सुसम्पन्न जंगल और स्नान के लिए सरोवर अथवा नदी का समीप में होना अपेक्षित था। प्राचीन भारतीय विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य एवं तप का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। ब्रह्मचर्य एवं तपस्या के लिए आश्रमों एवं विद्या केन्द्रों का नगर के भोगमय वातावरण से सुदूर होना मनोवैज्ञानिक तथ्य था। विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास के लिए उत्तम स्वास्थ, ज्ञान एवं तपस्या के लिए आचार्य अपने विद्या केन्द्रों अर्थात् आश्रमों की स्थापना नगर एवं ग्राम से सुदूर जंगलों में किया करते थे। उपनिषदों एवं स्मृति ग्रन्थों में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा प्रदान करने वाले ऋषियों की आवास भूमि अरण्य को ही प्रदर्शित किया गया है। नगर से दूर आश्रमों में निवास करनेवाले ऋषियों के समीप ब्रह्मज्ञान की सर्वोच्च शिक्षा के अधिकारी ब्रह्मचारी पहुँचते थे। छान्दोग्योपनिषद 8/5/3 के अनुसार अरण्य में निवास ब्रह्मचर्य का पर्याय समझा जाता था। 'यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव।'

महाभारत में उपलब्ध एक उल्लेख के अनुसार एक सुप्रसिद्ध आचार्य भारद्वाज का आश्रम गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में विद्यमान था। इस विद्या केन्द्र में वेद वेदांगों के साथ अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। आचार्य अग्निवेश्य और द्रोणाचार्य ने इसी विद्या केन्द्र में आग्नेयास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। (आदि पर्व 126/34) इसी आश्रम में राजा द्रुपद ने आचार्य द्रोण के साथ धनुर्वेद की निपुणता प्राप्त की थी। इसी प्रकार महेन्द्र पर्वत पर विद्यमान आश्रम में आचार्य परशुराम के समीप द्रोण ने अध्ययन किया था। परशुराम ने प्रयोग, रहस्य और उपसंहार-विधि के साथ सम्पूर्ण अस्त्र-शास्त्रों की शिक्षा द्रोणाचार्य को प्रदान की थी। इसी प्रकार हिमालय पर्वत पर बदरी क्षेत्र में महर्षि व्यास का आश्रम सुप्रसिद्ध था। इस रमणीय आश्रम में आचार्य व्यास के समीप सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि और पैल वेद पढ़ते थे।

आचार्य कण्व के आश्रम में न्याय, तत्व, आत्मविज्ञान, मोक्ष शास्त्र, तर्क व्याकरण, छन्द निरुक्त आदि विषयों के सुप्रसिद्ध विद्वान विद्यमान थे। यज्ञ के सभी विधानों और क्रिया कलाप के लिए विशेषज्ञ आचार्य नियत थे। मालिनी नदी के तट पर महर्षि कण्व का रमणीय आश्रम विराजमान था। चारों ओर पुष्पित पादप होते थे। घास के मैदान, पक्षियों की मधुर कलरव, हवन की सुगन्ध, वैदिक मंत्रों का पाठ मोहक होता था।

रामायण के अनुसार प्रयाग में भारद्वाज मुनि का आश्रम गंगा-यमुना-संगम के समीप, विविध प्रकार के फूलों, फलों से सुशोभित था। मुनियों के समीप अनेक प्रकार के मनोहर मृग एवं पक्षी निवास करते थे। इसी प्रकार दण्डकारण्य में महर्षि अगस्त्य का आश्रम था। तक्षशिला का विश्वविद्यालय महाभारत काल से ही सम्पूर्ण उत्तर भारत में विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। यहीं पर आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद ने शिक्षा ग्रहण किया था। जातक कथाओं के अनुसार तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने के लिए काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयिनी से छात्र आते थे। तक्षशिला में प्रधान रूप से वेद की शिक्षा के साथ चिकित्सा (आयुर्वेद), शल्य, धनुर्वेद, युद्ध विज्ञान, हस्तिसूत्र, ज्योतिष, व्यापार, कृषि, संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, इन्द्रजाल, गुप्त कोश ज्ञान, मृगया, अंकविद्या, पशु-पक्षियों की बोली का ज्ञान, निमित्त ज्ञान और विषोपचार आदि 18 शिल्पों की शिक्षा प्रदान की जाती थी।

गुप्तकालीन विद्या केन्द्रों के स्वरूप का सुन्दर चित्रण महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। समीपवर्ती वनों में नीवार, फूल, फल, समिधा आदि पर्याप्त मात्रा में सहज सुलभ होते थे। इसी सातवीं शती में विद्यालयों का चित्रण वाणभट्ट की कादम्बरी में मिलता है। आश्रम में वटु समूह का सामूहिक वेद पाठ, पुष्पित और फलवान वृक्षों और लताओं की रमणीयता मनोहारी हुआ करती थी। ताल, तमाल, हिन्ताल, बकुल, नारिकेल, सहकार आदि के वृक्ष। एला, पूगी आदि की लताएँ, लोध, लवली, लवंग आदि के पल्लव, आम्र मंजरी, केतकी पराग, निर्भयमृग, कुश कुसुम मिट्टी लिए भुरवर शिष्य, मयूर, दीर्घिकाएँ, पाठशालाओं के आगम में सूखता हुआ श्यामक, आमलक, लवली, कर्कन्धू, कदली, लकुच, पनस, आम और ताल के फलों की राशि आश्रम की शोभा बढ़ाया करती थी। आश्रम में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पूजा होती थी। यज्ञ विद्या पर व्याख्यान, धर्मशास्त्रों की समालोचना होती थी। मुनियों के योगाभ्यास एवं समाधि से, मंत्रों की साधना से सम्पूर्ण आश्रम मनोहर होता था।

आगे चलकर पौराणिक काल में यज्ञों का स्थान देव पूजा ने ले लिया, आश्रम के स्थान पर मंदिर बनने लगे। मंदिरों में पूर्ववर्ती आश्रम जीवन पद्धति का प्रारूप प्रतिष्ठित था। यहीं से धर्म संबंधी ज्ञान की सरिता का सर्वत्र प्रवाह होने लगा। स्कन्द पुराण के अनुसार विद्यादान महान दानों की श्रेणी में मान्य था। विद्या मंदिरों में धर्मशास्त्र की पुस्तकों का दान पुण्यशाली माना जाता था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की मौलिक विशेषता मानव की आध्यात्मिक

जिज्ञासा की परिपूर्ति में होती है। सत्-चित्, आनन्द का अनुसन्धान प्राचीन भारतीय विद्या-केन्द्रों का परम लक्ष्य था। परमानन्द विज्ञान के अध्ययन के साथ साहित्य, व्याकरण, अठारह शिल्प विद्याओं का सम्पूर्ण ज्ञान प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की मौलिक विशेषता रही है जिसके द्वारा विद्यार्थी ब्रह्मचर्य आश्रम में सर्वतोमुखी ज्ञान विज्ञान में निष्णात होकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था और दैवी गुणों, दया, ममता, वात्सलता, सत्य, अहिंसा आदि गुणों के द्वारा समाज को, राष्ट्र को सुख समृद्धि से भरपूर करता था जिसको देखकर देवतागण भी भारत भूमि पर जन्म लेने के लिए तरसते थे।

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्।"

अर्थात् भारत भूमि के दैवी गुणों से सम्पन्न नर-नारी देवताओं के भी आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। मनुष्य अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण ही अन्य जीवों से भिन्न है। आध्यात्मिक गुणों का विकास भारतीय शिक्षा पद्धति की मौलिक विशेषता रही है।

सच कहा जाय तो मनुष्य आध्यात्मिक जीव है। आधुनिक शिक्षा पद्धति जो भारतवर्ष में प्रचलित है वह पाश्चात्य शिक्षाविदों की देन है जिसमें मनुष्य के आध्यात्मिक प्रकृति की उपेक्षा की जा रही है जिसके फलस्वरूप छात्रों में दया, धर्म, अहिंसा, सत्य, आचार्य, माता-पिता की सेवा आदि दैवी गुणों का अभाव दृष्टिगोचर होता है जिससे समाज में आसुरी प्रवृत्तियों, असत्य, अशौच, हिंसा, गुरुजन अपमान, प्रमाद, मोह, भोग, अज्ञान का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और शिक्षा पद्धति के दोष के कारण अनायास विद्यार्थी दोषी माना जाने लगा है। देश में जातिवाद, सम्प्रदायवाद, आतंकवाद अभारतीय शिक्षा पद्धति का प्रतिफल है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की पूर्णता विद्यार्थी में अध्यात्म ज्ञान, ब्रह्मचर्य, जप, तप, शिल्प ज्ञान, कला कौशल आदि की उपलब्धि कराकर पूर्ण मानव बनाना था। वर्तमान शिक्षा पद्धति का एकमात्र उद्देश्य भाषा ज्ञान तथा धनार्जन का कौशल सिखाना है। दैवी गुणी की प्राप्ति का उपाय वर्तमान शिक्षा में लेशमात्र नहीं है इसीलिए आधुनिक शिक्षा में निष्णात विद्वान वैज्ञानिक मानवता को दानवता की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध हो रहा है। आज मानव को मानव से ही भय, पीड़ा है अन्य से नहीं है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के अनुसार ज्ञान बौद्धिक प्रक्रिया है। राग द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार आदि मन के विकारों से बुद्धि आच्छादित हो जाती है अर्थात् ज्ञान शक्ति का विनाश हो जाता है और मनुष्य विषयों का चिन्तन करने लगता है और उन्हीं विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से विषयों में कामना उत्पन्न होती है। कामना में विघ्न पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरणशक्ति का नाश

होता है। स्मृति के भ्रमित हो जाने पर बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश होने पर मनुष्य अपने श्रेयकर साधनों से गिरकर नष्ट हो जाता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में ब्रह्मचर्य का महत्वपूर्ण स्थान निहित था क्योंकि ब्रह्मचर्य के अभाव में चंचल मन पर नियंत्रण सम्भव नहीं है। उसके अभाव में सुखोपलब्धि सम्भव नहीं है। संयम और नियम की पीठिका पर ही ज्ञान की साधना संभव है। आधुनिक शिक्षा पद्धति में संयम, नियम, ब्रह्मचर्य का अभाव होने के कारण, मानव मन संशयात्मक स्थिति में विचरण कर रहा है और प्रत्येक छात्र अज्ञान्धकार में इन्द्रियों की जिज्ञाशा शान्त करने हेतु शिक्षा को जीविकोपार्जन का साधन मात्र समझने लगा है। वर्तमान शिक्षा विद्यार्थी को दैवी गुणों से दूर करके आसुरी गुणों की ओर अग्रसारित कर रही है और सम्पूर्ण समाज अशान्त है।

भारत धर्माण देश है। इस देश में जब तक ऋषियों द्वारा अनुभूत स्मृतियों, धर्मशास्त्रों में वर्णित शिक्षा पद्धति का अनुसरण करते हुए शिक्षा नीति में, शिक्षा पद्धति में, पुस्तकों में, आचार संहिता में, विद्यालयों की स्थापना एवं स्थान में सम्यकरूपेण परिवर्तन नहीं किया जायेगा तब तक देश में न छात्रहित हो सकता है और न देशहित हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि शिक्षा ज्ञान की मनोरम साधना है। ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। मानव को ज्ञान बाहर से नहीं प्राप्त होता है बल्कि आत्मा के बोध से ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। मानव की इस अन्तर्निहित ज्ञान शक्ति को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र आधार एकाग्रता है। चित्त की एकाग्रता ही शिक्षा मूल का तत्व है। चित्त अर्थात् मन ही शिक्षा का वाहन है। भारतीय चिन्तन में चित्त वृत्ति निरोध को योग और उत्तम शिक्षा का लक्ष्य माना गया है। मनुष्य का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है तभी कहा गया है 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' अर्थात् मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का आधारभूत प्रधान कारण है। वर्तमान शिक्षा पद्धति भारत में लार्ड मैकाले की दास शिक्षा पद्धति का एक दुःखद रूप है जो विद्यार्थी को अन्धकार से प्रकाश की ओर न ले जाकर, प्रकाश से अन्धकार की ओर ढकेल रही है। जब तक वर्तमान शिक्षा पद्धति का समूल परिवर्तन नहीं होता है और नयी शिक्षा पद्धति स्मृतियों की पृष्ठभूमि पर नहीं बनायी जाती है तब तक देश में सुख, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान, कला कौशल का सुखद विकास रामराज्य की कल्पना संभव नहीं हो सकती है।

उपसंहार

मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति है। भारतीय दृष्टिकोण इसी पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की कसौटी में सभी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विषयों को आँकता है। जो विषय इस परीक्षण में खरा उतरता है वही समाज में प्रतिष्ठित माना जाता है और हमारे जीवन के प्रशस्त मार्ग का मार्गदर्शन करता है। वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संस्कारों का क्रमिक विधान, हमारे इसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं। यद्यपि मनु ने मनुस्मृति में मानव समाज के प्रत्येक पहलू का चित्रण किया है और साथ ही साथ तात्विक विचार विमर्श प्रस्तुत किया है परन्तु उनकी समाजशास्त्रीय विचार पद्धति बहुत ही स्पष्ट एवं महत्वपूर्ण है। उन्होंने मानव समाज की प्रत्येक समस्याओं पर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। परिवार नियोजन, छात्र अनुशासन, इन्द्रिय संयम आदि अनेक विषय जिनका चित्रण यद्यपि अभिधा के रूप में मनुस्मृति में नहीं दृष्टिगोचर होता है। यदि कुछ संकेत मिलता भी है तो वह स्पष्ट नहीं है परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से इन तत्वों पर विचार किया जाय तो इन विषयों का जितना मनोवैज्ञानिक चित्रण मनु ने किया है उतना स्पष्ट चित्रण अन्यत्र सम्भव नहीं है। प्रस्तुत प्रबन्ध में लेखक ने इन्हीं मनोवैज्ञानिक तत्वों के विश्लेषण का कुछ प्रयास किया है।

मनुस्मृति का आधार ग्रन्थ वेद है। भगवान मनु ने इस मनुस्मृति में वेद में प्रतिपादित गहन विषयों का सरल विवेचन किया है। विनाशोन्मुख इस वैज्ञानिक युग में मानव जीवन को सुरक्षित रखने की समस्या एक विषम विषय बन गई है। इस समस्या का समाधान विश्व की किसी संस्कृति में उपलब्ध नहीं है। वह यदि सम्भव है तो भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के विवेचन के द्वारा ही सम्भव है। विषय वासना की विषम ज्वाला से व्यथित मानव यदि मनु-निर्दिष्ट सम्पूर्ण मानवीय नियमों, आचार विचारों को व्यवहार में परिणत करने का प्रयास करें तो समाज में व्याप्त विषम ज्वाला अपने आप शान्त हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुस्मृति में मनु ने मानव आचार व्यवहार का जितना स्वाभाविक चित्रण किया है वह बहुत ही उपयोगी है। इसी दृष्टिकोण से इस मनुस्मृति का एक सामाजिक अध्ययन लेखक ने अपनी बाल चपल बुद्धि से करने का दुःसाहस किया है। आशा है सुधीजन अपने गहन गांभीर्य बुद्धि कौशल से स्पर्श कर इस बाल क्रीड़ा को प्रोत्साहित करेंगे।

□□

ग्रन्थ निर्देश

मनुस्मृति	—मन्वर्थमुक्तावली सहित, कुल्लूकभट्ट
मनुस्मृति	—मेघातिथिभाष्य सहित, अंग्रेजी अनुवाद (गंगानाथ झा)
याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र	—जेलर द्वारा सम्पादित, बर्लिन
आपस्तम्ब धर्मशास्त्र	—चौखम्भा, बनारस
गौतम धर्मशास्त्र	—आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना
वृहस्पति स्मृति	—गायक वाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा
हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र	—पी० वी० काणे
सामाजिक मनोविज्ञान	—दयानन्द डिमरी
समाज कार्य सिद्धान्त और व्यवहार	—श्रीराम जी शास्त्री
हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर	—मैक्समूलर
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	—मैक्डानल
छान्दोग्य उपनिषद	—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना

समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्त—एस० के० सरन

□□

